CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

8-2

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

0.2

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्याय-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट्-दर्शन, २० स्मृतियों, २४ गीता योग वशिष्ठ एवं १८ पुराणों के प्रसिद्ध भाष्यकार

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर), बरेली (उ० प्र०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक :
डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर)
बरेली-२४३००१ (उ०प्र०)

●

सम्पादक :
पं० श्रीराम आचार्य

●

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

●

द्वितीय संस्करण
१९७६

●

मुद्रक :
शैलेन्द्र बी. माहेश्वरी
नव ज्योति प्रेस,
मथुरा

●

मूल्य :
पाँच रुपये पचहत्तर पैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख की खोज में प्रयत्न कर रहा है। छोटा वड़ा, अज्ञानी-ज्ञानी प्रत्येक व्यक्ति सदैव इसी चेष्टा में लगा रहता है कि उसे किसी प्रकार की असुविधा, दुःख सहन न करना पड़े, उसकी सब आवश्यकताओं, अभिलाषाओं की पूर्ति होती रहे, वह सुख, चैन का जीवन व्यतीत कर सके। पर परिणाम प्रायः इसके विपरीत दिखाई देता है। संसार में ऐसे मनुष्य इने-गिने ही मिलेंगे जो अपने को सुखी कह सकें। ऐसे साधारण लोगों की वात तो छोड़ दीजिए जिनको रोटी कपड़ा तथा अन्य जीवन-निर्वाह की वस्तुयें भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती, अथवा जो नौकरी, मजदूरी, रोजगार की तलाश में ही प्रायः इधर-उधर फिरते रहते हैं, पर मध्यम और उच्च श्रेणी के कहलाने वाले भी, जिनको भर-पेट उत्तम भोजन, बढ़िया कपड़े और मनोरंजन के सुख साधन प्राप्त हैं, अपने को पूरा सुखी नहीं समझते हैं। बातचीत में वे प्रायः तरह-तरह के अभावों तथा कठिनाइयों का ही जिक्र करते पाये जायेंगे। कितने ही 'बड़े' माने जाने वाले लोगों का जीवन तो जाहिरा ठाठ-बाट और सुख-वैभव में होते हुए भी इतना दुःखपूर्ण और आपत्तियों से घिरा होता है कि वे जीवन से मृत्यु को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। संसार में ऐसे लोगों की शोचनीय अवस्था हमको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ जाती है।

इस विपरीत अवस्था का क्या कारण है? मनुष्य सुख की अभिलाषा, प्रयत्न करते हुए भी दुःख, कष्ट, अभाव में क्यों ग्रसित हो जाता है? संसार के भौतिकवादी, जिनमें आजकल के बड़े-बड़े जगत प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों की गणना भी की जा सकती है, इस समस्या का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई हल नहीं कर पाये। वे तो इसका एक ही उपाय बतलाते हैं कि मनुष्य को और अधिक प्रयोग करना चाहिए और सुख-साधनों को बढ़ाना चाहिए। उनको अपने इस उद्देश्य में सफलता भी हुई है और उनके पास सुख-सामग्री पहले से कई गुनी अधिक बढ़ गई है। पर इसके साथ ही ऐसी-ऐसी विषम समस्यायें भी उत्पन्न होती जाती हैं जिनसे उनको सदा उद्विग्न रहना पड़ता है तथा शान्ति और सन्तोष की बड़ी कमी दिखलाई पड़ती है।

भारतीय तत्व-दर्शियों ने इस समस्या पर दूसरी ही दृष्टि से विचार किया है। उनका मत है कि यह संसार तो अभाव और असुविधाओं से युक्त है। मनुष्य प्रयत्न और उद्योग करके उनको जितना कम कर सके उतना ही ठीक है। अभावों और दुःखों की पूर्ण निवृत्ति तो बहुत बड़ी बात है और कोई बड़ा पुरुषार्थी ही बहुत दीर्घकाल तक प्रयत्न करके उसमें सफल हो सकता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य-जन्म का लक्ष्य ही इस प्रकार के दुःखजनक अभावों से यथासंभव छुटकारा पाना है। यहाँ पर सुख की कल्पना अथवा खोज करना तो बुद्धिहीनता का चिन्ह ही है। ऐसा व्यक्ति चाहे कुछ समय तक अज्ञान के कारण सुख का झूठ-मूठ अनुभव करता रहे पर अन्त में उसको और भी अधिक दुःख में फँसना पड़ता है। हाँ, जो व्यक्ति इस संसार को अभाव रूप समझकर क्रमशः उसकी निवृत्ति के लिए चेष्टा करता रहेगा वह उनके कुप्रभाव से अधिकांश में बचा रह सकता है।

संसार में पाये जाने वाले इन अभावों और दुःखों से मनुष्य का किस प्रकार छुटकारा हो इसके सम्बन्ध में प्राचीन मनीषियों ने कई तरह के मार्ग बतलाये हैं जो प्रत्यक्ष में पृथक और विपरीत दिखाई पड़ने पर भी पात्र और रुचि की दृष्टि से सभी सही हैं। एक आत्मा के स्वरूप को समझने और सभी सांसारिक पदार्थों में आत्म-बुद्धि रखकर परलोक-साधन का उपदेश देता है, दूसरा सबको एक ही परमात्मा का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंश कहकर भक्ति और सेवा का जीवन व्यतीत करने को लाभदायक बतलाता है, तीसरा संसार के पदार्थों और घटनाओं को सात्विक दृष्टि से देखते हुए अपने मन और बुद्धि को उनमें आसक्त न होने देने की सलाह देता है।

न्याय दर्शन को हम तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। यद्यपि वह आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वर की उपासना आदि में पूर्ण विश्वास रखता है। पर इनको उचित रूप में प्राप्त करने, जीवन को लौकिक तथा पारलौकिक दृष्टि से सफल बनाने के लिए सांसारिक पदार्थों और घटनाओं का ही विवेचन करता है। उसका मत है कि मनुष्य का समस्त ज्ञान मन, बुद्धि और इन्द्रियों के ही द्वारा प्राप्त होता है। यदि इनमें से किसी एक में भी विकार उत्पन्न हो जायगा तो मनुष्य का ज्ञान भी उसी अनुपात से विकृत हो जायगा और तब ज्ञान द्वारा किसी महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करके जो परिणाम निकाला जायगा वह भी विचारयुक्त अथवा उद्देश्य की पूर्ति करने वाला होगा।

इस तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर न्याय-दर्शन यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। कि यदि मनुष्य संसार में आकर सद्व्यवहार और सत्कर्म करके दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है, तो इसके लिए सर्वप्रथम उसे उन सब पदार्थों-तत्वों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिनसे इस जड़ तथा चैतन्य रूप जगत की रचना हुई है। विभिन्न मतानुयायी इसका स्वरूप पृथक-पृथक बतलाते हैं, जिनसे किसी भी मनुष्य की बुद्धि भ्रमित होजाती है। इस अवस्था का निराकरण करने के लिए न्याय-दर्शन तर्क और प्रमाणों की एक ऐसी परिपाटी उपस्थित करता है जिससे पदार्थों का यथार्थ रूप का निर्णय हो सके। उसके पहले ही सूत्र में कहा गया है—

"प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान-ये सोलह निःश्रेयस (मुक्ति अथवा कल्याण) के साधन हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस सूची में पहले दो विषय प्रमाण और प्रमेय हैं। प्रमाण का अर्थ है इस प्रकार का कोई साधन या कसौटी जिससे हमको सत्य और असत्य का भेद मालूम हो सके। यथार्थ और ज्ञान प्राप्त करने में सबसे प्रमुख विषय यही है और इसलिए इसको प्रमेय (जानने योग्य विषय) से भी पहले स्थान दिया गया है। इससे सूत्रकार का आशय यही है कि बिना अच्छाई-बुराई वास्तविकता और अवास्तविकता को जाने सँसार में जीवन व्यतीत करना निरर्थक है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। 'प्रमेय' पर विचारकरने के लिये हमको पहले 'प्रमाण' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिनसे ज्ञान-क्षेत्र में कदम रखते ही हम इस बात का निर्णय कर सकें कि यह विषय वास्तव में विचार करने योग्य है भी या नहीं ?

तीसरा विषय 'संशय' बतलाया है। सच्ची परीक्षा करने के लिए इस बात की भी बहुत अधिक आवश्यकता है कि हम संसार के पदार्थों और उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्तकर भी सकते हैं या नहीं ? दर्शनशास्त्र में यह 'सन्देहवाद' एक अनिवार्य बात है और सच तो यह है कि जब मनुष्य के हृदय में लौकिक और पारलौकिक विषयों के सम्बन्ध मे संशय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तभी उन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करके ठीक-ठीक निर्णय करने की आवश्यकता अनुभव होती है। जब सन्देह दूर हो जाता है और हम यह जान लेते हैं कि सत्य और असत्य के निर्णय करने की शक्ति सम्भव है और मनुष्य उसे प्राप्त कर सकता है, तब हम चौथे विषय 'प्रयोजन' पर पहुंचते हैं जिससे हम इस बात पर विचार करते हैं कि हम किस कार्य के लिये क्या जानना चाहते हैं ? उसके पश्चात् 'दृष्टान्त' या उदाहरण द्वारा हम यह देखते हैं कि इस प्रकार की स्थिति में अन्य लोगों ने किन उपायों का अवलम्बन किया और तब हम इस निष्कर्ष या सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि हमारे प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये यह मार्ग उपयुक्त ठहरेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके पश्चात् आगे बढ़ने पर जब हम 'सिद्धान्त' रूप में स्वीकार की गईविधि से ज्ञातव्य विषय की विवेचना करने लगते हैं तो हमको आगामी तीन पदार्थ 'अवयव', 'तर्क' और 'निर्णय' से काम लेना पड़ता है। किसी विषय का अनुमान करते समय जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उसके विभिन्न अङ्गों को 'अवयव' कहते हैं। अनेक अवयवों को मिला कर एक साथ देखना और उनके गुप्त अर्थ को समझ लेना 'तर्क' है और इस तर्क के द्वारा एक निश्चयात्मक ज्ञान पर पहुँचना निर्णय' कहा गयाहै।

पर किसी एक व्यक्ति का अभिमत, जब तक कि वह आप्त-पुरुष न हो, सर्व सम्मत से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए सत्यासत्य का सर्वमान्य निर्णय करने के लिये आवश्यक है कि अनेक विद्वान प्रमाणों के आधार पर उस विषय पर चर्चा करके कोई निष्कर्ष निकालें। इस प्रकार की शास्त्र-चर्चा को, जब वह वास्तव में तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त की जाती है 'वाद' कहते हैं। इसके द्वारा संसार के विभिन्न पदार्थों के सच्चे स्वरूप का परिचय प्राप्त करके मनुष्य तदनुकूल आचरण कर सकता है। पर जब इस प्रकार की चर्चा केवल प्रतिद्वन्दिता के भाव से अपने प्रतिद्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करने के हेतु की जाती है और केवल अपने पक्ष को प्रमाणित करने वाली युक्तियां उपस्थित की जाती हैं तो उसे 'जल्प' कहा जाता है। इससे भी आगे चल कर वक्ता का उद्देश्य केवल प्रतिद्वन्द्वी के मत का खण्डन करना होता है और वह अपने पक्ष का समर्थन करना छोड़कर केवल विपक्ष के मत के दोष दिखलाता है तो उसे वितण्डा' कहा जाता है। इस प्रकार किसी शास्त्रीय विषय पर चर्चा करने या 'कथा' के तीन रूप 'वाद', 'जल्प' और 'वितण्डा' न्याय-दर्शन में बतलाये गये हैं।

इस प्रकार के खण्डन-मन्डन वाले शास्त्रार्थ या वादविवादों में दोनों पक्षों —वादी-प्रतिवादी द्वारा जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनको भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीन श्रेणियों में बांटा गया है। जब किसी विषय में जिज्ञासा के भाव से, सद्-हेतु से अनुमान किया जाता है तो उसे 'वाद' कहा जाता है। पर जब शास्त्रार्थ का उद्देश्य केवल जय-पराजय होता है तो ऐसी युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं जो सच्ची युक्ति न होकर युक्ति की नकल होती हैं। ऐसी युक्ति को न्याय में हेत्वाभास' कहा गया है। जब वाद-विवाद करने वाला शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, उनका अर्थ निकाल कर प्रतिद्वन्दी को हराने का प्रयत्न करता तो उसकी गणना 'छल' में होती है। जब वहस में अप्रांसगिक विपय लाकर सवाल कुछ और जवाव कुछ वाली युक्ति को चरितार्थ किया जाता है तो उसे 'जाति' कहते हैं।

न्याय का अंतिम अंग 'निग्रह-स्थान' माना गया है। इसका आशय वाद-विवाद द्वारा अन्त में प्रतिद्वन्दी की युक्तियों की किसी ऐसी कमजोरी (दोष) को पकड़ लेना है जिससे उसकी पराजय हो सके। इसे बाइस तरह का बतलाया गया है और पाँचवें अध्याय का द्वितीय आन्हिक केवल निग्रह-स्थान का वर्णन करने में प्रयुक्त है।

न्याय-दर्शन में ये सोलह 'पदार्थ' किसी भी विषय के गुण-दोषों की परीक्षा करके सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए बतलाये गये है। पर ये सब एक से महत्व के नहीं है। इनमें से अन्तिम सात अर्थात् 'वाद' से लेकर 'निग्रह-स्थान' तक तो केवल शास्त्रार्थों से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए इनका वर्णन संक्षेप में कर दिया गया है और उनका एक उद्देश्य यह भी है कि सम्मिलित विचार करते समय गलत ढङ्ग की युक्तियों या मनगढ़न्त प्रमाणों से वचा जा सके। सत्य के निर्णय का मुख्य साधन प्रमाण ही है, जिसे दूसरे अध्याय में बहुत विस्तार पूर्वक समझाया गया है।

प्रमाण —

जहाँ अन्य दर्शनों में मुख्यत: तीन प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुमान और शब्द माने गये हैं वहाँ न्याय में एक चौथा प्रमाण उपमान और कहा गया है। सूत्र १-१-४ के अनुसार (१) प्रत्यक्ष प्रमाण वह है जो इन्द्रिय और अर्थ के सामीप्य (संयोग) से होता है। यह केवल नाम पर आधारित नहीं होता, यथार्थ और निश्चय रूप से होता है।"

न्याय-दर्शन में अनुमान-प्रमाण का बड़ा महत्व है क्योंकि अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर सकने का एक मात्र साधन वही है। यह कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों का वास्तविक और सत्य-ज्ञान योग द्वारा होता है, क्योंकि हम योगियों से परमात्मा, आत्मा और परलोक के सम्बन्ध में कितनी ही ऐसी बातें सुनते रहते हैं जो जाँच करने पर सत्य सिद्ध होती है। पर साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि योग का मार्ग बहुत ही थोड़े विशेष व्यक्तियों के लिए सम्भव है और उसे सर्व-साधारण के लिए प्रमाण स्वरूप ग्रहण करना उचित नहीं। सब योगियों की योग्यता एक-सी नहीं होती और न प्रत्येक की सब बातें सत्य ही प्रमाणित होती हैं। इसलिये एक तीसरा व्यक्ति जो ऐसी गूढ़ विद्याओं पर विश्वास नहीं रखता, उन पर सन्देह कर सकता है। पर न्याय-दर्शन में किसी विषय की बुद्धि द्वारा प्रामाणित किया जाता है। उसमें प्रत्यक्ष बातों को देखकर उनकी सहायता से तर्क करके अप्रत्यक्ष विषयों का अनुमान किया जाता है।

न्याय के तर्क और अनुमान गणित के समान विधि से सिद्धि किये जाते हैं, इसलिए वे सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति की समझ में आ जाते हैं और सत्य तथा असत्य का निर्णय करने में उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। इसके लिए न्याय-सूत्र के रचयिता ने एक विशेष विधि निकाली है उसे 'पञ्च अवयवी' कहते हैं। उसमें (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन—इन पाँच विभागों में वाक्य को बाँटकर अन्य व्यक्ति को समझाया जाता है। इसके लिए न्याय-दर्शन में अग्नि और धुँए का उदाहरण दिया गया है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में आग जलते समय सदैव धुँआ निकलते देखता है, वह यदि कभी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी पहाड़ पर धुँआ उठते देखता है तो दूर रहने पर भी यह अनुमान लगा लेते हैं कि वहां भी आग जल रही होगी।

उपमान-प्रमाण को बहुत से लोग अनावश्यक बतलाते हैं। उनका कहना है कि "प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है और उपमान में भी इसी विधि से काम निकाला जाता है तब उपमान को मानने की आवश्यकता ही क्या है!" (२-१-४६) इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा कि 'अनुमान तो हम प्रत्यक्ष को कहते हैं, पर उपमान द्वारा हम एक ही जाति की अन्य प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" (१-१-४७)

शब्द-प्रमाण का आधार आप्त-उपदेश बतलाया गया है। जिन विषयों का निर्णय हम प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा नहीं कर सकते उनके लिए प्रामाणिक और विश्वस्त व्यक्तियों के कथन का आधार लेकर काम चलाते हैं। जिस प्रकार मन्त्र और औषधि के विषय में कार्य-कारण सम्बन्धी सम्बन्ध को न समझने पर भी हम उनके विशेषज्ञों के कथन पर विश्वास रख कर लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार आप्त-पुरुषों द्वारा कहे गये सिद्धांतों पर विश्वास रख कर और आचरण करके भी हम सत्य को प्राप्त कर सकते हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं। (२-१-६६)

प्रमेय

प्रमेय उस वस्तु अथवा पदार्थ को कहते हैं जिसके विषय में प्रमाण का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से संसार का कोई भी विषय 'प्रमेय' के क्षेत्र से बाहर नहीं। फिर भी न्याय-दर्शन में प्रमेय के १२ मुख्य भेद बतलाते हैं—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। (१-१-६)

"आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष—ये १२ प्रमेय हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस सूची में में पहले ६ विषय मनुष्य को कारण-रूप दृष्टि से देख कर निश्चित किये गये हैं और अन्तिम ६ उसकी क्रियाओं तथा क्रिया-फल से सम्बन्धित हैं। इसमें सबसे पहले 'आत्मा' को स्थान दिया गया है। कितने ही आक्षेपकर्ताओं ने ईश्वर को कर्त्ता न मानने के कारण 'न्याय' पर नास्तिकता का आरोप किया है पर अन्य-देशीय तथा विभिन्न धर्मों के दर्शनों ने जहाँ आत्मा की सत्ता पर अविश्वास प्रकट किया है न्याय-दर्शनकार ने उसे बड़े सुदृढ़ प्रमाणों से सिद्ध किया है। तीसरे अध्याय में 'प्रमेय' विषय पर विचार आरम्भ करते ही उसमें कहा है—

दर्शन स्पर्श नाभ्यामेकार्थग्रहणात्

शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से आत्मा को भिन्न सिद्ध करते हुए 'न्याय' एक अकाट्य तर्क पेश करता है कि आँखें केवल देखती हैं और त्वचा केवल स्पर्श द्वारा जानकारी प्राप्त करती है। पर मनुष्य दोनों गुणों को एक साथ मिलाकर वस्तु के गुणों में सामञ्जय करके उसके स्वरूप को समझ लेता है। इस प्रकार कई इन्द्रियों के ज्ञान को मिलाकर जो शक्ति पदार्थ की वास्तविकता को ग्रहण कर लेती है वही आत्मा है। इसी तरह का दूसरा प्रमाण यह है कि एक इन्द्रिय की क्रिया का प्रभाव भी तुरन्त दूसरी इन्द्रिय पर पड़ जाता है। जैसे हमने खाने का कोई स्वादिष्ट या रुचिकर पदार्थ देखा तो उसी समय मुँह में पानी (लार) भर गया। इसमें एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण करके उसके द्वारा दूसरी इन्द्रिय को प्रभावित करने वाली शक्ति भी आत्मा के सिवाय और कोई दिखलाई नहीं देता।

तीसरा प्रमाण यह है कि हम किसी व्यक्ति या पदार्थ को देखते हैं और हमको यह ख्याल आ जाता है कि हमने पहले कभी इसे देखा है। अन्य दार्शनिक इसे स्मरण शक्ति का कार्य बतलाते हैं पर गौतम इसके साथ ही यह भी कहते हैं कि यह स्मृति आत्मा का ही गुण है और उसकी सत्ता का दृढ़ प्रमाण है क्योंकि दस-पाँच वर्ष पहले जो उसे देखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था उसका अनुभव अब असली रूप में तो मौजूद है नहीं, केवल संस्कार रूप से वह विद्यमान है। भूतकाल और वर्तमान काल की दोनों घटनाओं को मिलाकर दोनों अनुभवों का एक निष्कर्ष निकाल लेना आत्मा का ही काम है।

पुनर्जन्म—आत्मा की तरह पुनर्जन्म के प्रश्न का समाधान भी न्याय-दर्शन में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले चिन्हों के आधार पर किया है। उसका कहना है कि जन्म लेते ही शिशु में हर्ष, शोक के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। बिना जीवन की अनुभूतियों के चिन्हों का प्रकट हो सकना सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा ने पिछले जन्मों में अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हीं के प्रभाव से बालक जन्म समय से ही ऐसी प्रवृत्तियों को प्रकट करने में समर्थ होता है।

शरीर और इन्द्रियाँ—यद्यपि शरीर पांचों तत्वों से बना है, पर न्याय ने इसे विशेष रूप से पार्थिव ही माना है। जल, वायु, तेज, पार्थिव अंश के सहायक रूप में ही होते हैं। इसलिए पृथ्वी-तत्व को मुख्य और शेष को गौण समझना चाहिए। शायद इसी तथ्य को समझ कर हमारे देश के अधिकांश सन्तों तथा ज्ञानियों ने एक स्वर से यही कहा है कि "यह मिट्टी की देह मिट्टी में ही मिल जायगी।"

इन्द्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्द्रियाँ स्थूल शरीर का अंश नहीं है, वास्तव में वह पदार्थों के गुणों को जान सकने की शक्ति है। इसलिए इन्द्रियों को भौतिक के बजाय अभौतिक मानना चाहिए। यही कारण है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त वृहत पदार्थों को एक समान ग्रहण कर सकती हैं।

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि पाँचों इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं या दर असल वे एक चेतनता के पांच विभिन्न रूप हैं। कुछ लोग पाँचों इन्द्रियों को मूल में एक ही मानते हैं और त्वचा को ही प्रमुख इन्द्रिय बतलाते हैं। उनका मत है कि त्वचा ही समस्त शरीर में व्याप्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आंख, कान और नाक जो अनुभव या ज्ञान प्राप्त करती हैं उसका कारण त्वचा ही है, क्योंकि त्वचा सब शरीर में व्याप्त है। आँख, कान, नाक आदि में भी वहाँ की त्वचा ही तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करती है। पर न्याय-दर्शन इस मत को नहीं मानता। उसका कथन है कि यह संसार पंच भौतिक है, पाँच भूतों का एक-एक गुण शब्द, स्पर्श, तेज, रस और गन्ध हैं और पांचों को ग्रहण करने के लिए पाँच इन्द्रियाँ भी हैं। इस दृष्टि से इन सबको एक मानना भ्रम की बात है। इन इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परिणाम भी होते हैं, जिनको देखते हुए उनको एक ही इन्द्रिय का फल नहीं माना जा सकता है।

अर्थ—इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँचों से सम्बन्धित ज्ञान को ही 'अर्थ' कहा गया है।

बुद्धि—"न्याय-दर्शन के सूत्र १-१-१५ के अनुसार 'बुद्धि' उपलब्ध और ज्ञान—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।" मनुष्य को जो ज्ञान होता है वह प्रायः इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। परन्तु न्याय-दर्शन में बुद्धि का आशय इतना ही नहीं है। मनुष्य एक कार्य को करता हुआ उसे देखता और समझता है और उसी समय कोई व्यक्ति सर्वथा भिन्न विषय के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने लगता है तो वह तुरन्त ही उसको भी उत्तर दे देता है। यदि कोई विषय बहुत पुराना हो और एकाएक याद न आवे तो भी प्रयत्न करने से—सोचने से वह भी प्रायः याद आ जाता है। अन्य दार्शनिक तो इसको केवल स्मृति का कार्य समझते हैं और कहते हैं कि पुरानी स्मृतियाँ जो अनेक नवीन स्मृतियों के नीचे दब जाती है देर से या विशेष प्रयत्न करने पर याद आती है। पर न्याय का मत है कि ये सब बातें बोध या ज्ञान के रूप में चेतना में टिकी नहीं रहतीं वरन् संस्कार के रूप में स्थिति रहती हैं और वही आवश्यकता पड़ने पर 'बोध' को उस विषय का ज्ञान करा देती हैं।

न्याय में बुद्धि को अनित्य माना गया है। इसका आशय भी यही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि इन्द्रिय और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान तो उसी समय समाप्त होजाता है पर उसका संस्कार स्थायी रूप से बना रहता है जो अवसर पड़ने पर पुन; प्रकट हो जाता हैं। मन भीतर की अप्रकट इन्द्रिय है जो बुद्धि की सहायक है। इसी के द्वारा सुख और दुःख राग-द्वेष आदि का अनुभव होता है।

इस प्रकार आत्मा से मन तक व्यक्ति के उन विभागों का वर्णन किया गया जिनके कारण क्रिया करना और उनके परिणाम के सम्बन्ध में निश्चय करना सम्भव होता है। शेष ६ प्रमेयों में उन क्रियाओं या प्रवृत्तियों का वर्णन आता है जिनके द्वारा मनुष्य शुभ या अशुभ कर्मों का भागी होकर मूल-गन्तव्यस्थान निःश्रेयस या अपवर्ग की तरफ अग्रसर होता या उससे दूर हटता है।

प्रवृत्ति—मन, वाणी, शरीर से किसी क्रिया का होना प्रवृत्ति है। इसका अर्थ वेदों में बतलाई यज्ञ आदि क्रियायें भी हैं जिनका फल पुण्य बतलाया गया है। वेदों में जिन कर्मों को निषिद्ध बतलाया गया है उनसे अधर्म अथवा पाप की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से स्वाभाविक या आकस्मिक होने वाली घटना और प्रवृत्ति में अन्तर है, यद्यपि ऊपर से दोनों एक-सी दिखलाई पड़ती हैं। प्रवृत्ति में उन्हीं क्रियाओं का समावेश होगा जो समझबूझकर किसी इरादे के साथ की जायें।

दोष—न्यायशास्त्र में दोष के तीन भेद माने गये हैं। (१) राग, अर्थात् इच्छा या किसी विषय की अभिलाषा, (२) द्वेष अर्थात् क्रोध (३) मोह अर्थात् मिथ्याज्ञान। उन्हीं तीनों के प्रभाव से मनुष्य सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है। न्याय में मोह को सर्वप्रधान माना गया है और सूत्र (४—१—६) में कहा गया है कि "मोह बड़ा पापी है" यदि मनुष्य मोह से बचा रहे तो राग और द्वेष भी नहीं होंगे।" मोह का वास्तविक स्वरूप 'सत्यज्ञान का अभाव' ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेत्यभाव---इसका अर्थ है पुनर्जन्म। मनुष्य का चरम लक्ष्य दोषों राग, द्वेष और मोह से छुटकारा पाना है, क्योंकि यही सब प्रकार के दुःखों का कारण और अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग में बाधा स्वरूप है। पर जैसा सभी ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है इन तीनों में सर्वथा छूट सकना सहज नहीं है। इसके लिए बहुत लम्बे समय तक नैनिकतापूर्ण जीवन का अतिवाहित करना आवश्यक है जो एक जन्म में सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए न्याय-दर्शन का मत है कि हमारा यह प्रयत्न एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में भी जारी रहता है। हमारा वर्तमान जीवन तो समस्त जीवन की एक छोटी-सी कड़ी है, जिसमें न मालूम कितनी जीव-योनियाँ और मनुष्य-जन्म जुड़े हुए हैं। इस प्रयत्न में अपनी शक्ति और प्रयत्न के अनुसार हम अपवर्ग की ओर बढ़ने जाते हैं और अन्त में अनेक जन्मों के पश्चात् इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त होती है।

न्याय-दर्शन का मत है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर कर्म भल भोगने में परतन्त्र है। इसी कारण अनेक मनुष्यों को ठीक मार्ग से चलने पर, पूरा उद्योग करने पर भी फल उनकी इच्छा के विपरीत मिलता है। न्याय ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि फल देना ईश्वर के हाथ में है, जो पूर्व कर्मों के अनुसार मिलता है और जिससे मनुष्य किसी दशा में बच नहीं सकता।

कर्म-फल मिलने के सम्बन्ध में न्याय-दर्शनकार ने प्रति-पक्ष की तरफ से दो शंकायें उठाकर उनको अनिवार्यत: स्पष्ट रूप से सिद्ध की है। प्रतिपक्षी कहता है कि संसार में कार्य कारण का यह नियम देखा जाता है कि कारण के समाप्त होने पर कार्य उसी समय आरम्भ हो जाता है, पर कर्म-फल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका फल कर्म करने से बहुत बाद में परलोक जाने पर मिलेगा। यह बात कार्य-कारण नियम के विपरीत है। दूसरी शंका यह है कि जब सब प्रकार के बुरे और भले कर्म हमारा वर्तमान शरीर करता है तो यह कहाँ का न्याय है कि उन कर्मों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का फल अन्य जन्मों में दूसरे शरीर को सहन करना पड़े। इन शंकाओं का निराकरण सूत्रकार ने इस प्रकार किया है कि सब कारणों का फल तुरन्त ही नही मिल जाता। हम अपने जीवन निर्वाह के लिए जो खेती करते हैं उसमें भी बीज बोने और सींचने के कारण रूप तथ्यों का परिणाम अर्थात् अन्न का प्राप्त होना कई महीने बाद दिखाई पड़ता है। दूसरे आक्षेप के उत्तर में कहा गया है कि कर्म-फल का भोक्ता शरीर नहीं आत्मा है और वही कर्त्ता भी है। इसलिए यदि एक जन्म के कर्मों का फल दो चार जन्मों के बाद भी अनुकूल परिस्थिति आने पर मिले तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दुःख—यद्यपि संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं और उनके अनेक कारण पाये जाते हैं, पर उस सबके सारांश रूप में न्याय-दर्शन ने यह परिभाषा दी कि "बाधना लक्षण दुःखम्" (इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ना दुःख का लक्षण है) जिस प्रकार जीवन-यापन करने का मनुष्य को अभ्यास पड़ जाता है, उसमें किसी तरह की रुकावट पड़ने का अर्थ ही दुःख है। यह रुकावट या बाधा चाहे अपनी गलती से पैदा हो, चाहे कोई अन्य व्यक्ति डाले और चाहे प्रकृति के कारण उत्पन्न हो मनुष्य उसके कारण दुःख का अनुभव ही करता है। 'न्याय-दर्शन' ने संसार को विशेष रूप से दुखमय माना है, क्योंकि उनके मतानुसार इसमें जन्म लेना तथा मृत्यु आने पर इसे छोड़ना दोनों दुःख रूप ही हैं। इस पर प्रतिपक्ष का कहना है कि दुःख में सुख भी मिला रहता है जिसके कारण मनुष्य किसी भी दिशा में स्वेच्छा से संसार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। वास्तव में इस संसार में सुख और दुःख दोनों मिले हुए दिखाई देते हैं, इसलिए इसे मिश्रित ही कह सकते हैं।

अपवर्ग या मोक्ष—प्रमेय में अन्तिम विषय अपवर्ग या मोक्ष का है, जिसका अर्थ है, दुःखों का अत्यन्त अभाव। इसका आशय यही है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जब मनुष्य दुःख-भाव से सर्वथा ऊपर उठ जाता है और कैसी भी विपरीत परिस्थिति उसके मन को चलायमान या व्यथित नहीं करती, तब वह मोक्ष की अवस्था होती है। इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि जङ्गल में जाकर तपस्या या कठोर साधना की जाय। दुख और सुख की भावना मनुष्य के मन में रहती है और जब ज्ञान प्राप्ति होकर उनकी व्यर्थता को मनुष्य समझ जाता है, तो उसे भव-बन्धन से मुक्त ही समझना चाहिए।

न्याय दर्शन की विशेषतायें:—

ईश्वर की सत्ता—यद्यपि न्याय ने इस जगत की उत्पत्ति परमाणुओं के संयोग से मानी है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान का भी निष्कर्ष है, पर उसने ईश्वर की सत्ता से कहीं भी इनकार नहीं किया है। इतना ही नहीं इतिहास द्वारा सिद्ध होता है कि जब बौद्ध धर्मावलम्बियों ने निरीश्वरवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया और उसके कारण देश में नास्तिकता के भावों की वृद्धि होने लगी तो न्याय-दर्शन के आचार्यों ने ही बड़े प्रौढ़ तर्कों से उनके मत का खण्डन करके ईश्वर के आस्तित्व को सिद्ध किया और नास्तिकवाद की धारा को आगे बढ़ने से रोका। यह ठीक है कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि दर्शनों ने ईश्वर के स्वरूप की विस्तारपूर्वक विवेचना नहीं की है, पर इसका कारण यही था कि उस समय उनको ऐसा करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। वे जगत का अस्तित्व मानने के साथ ईश्वर का अस्तित्व मानना स्वाभाविक समझते थे। न्याय-दर्शन के एक प्रसिद्ध आचार्य उदयन ने ईश्वर सिद्धि के लिये जो तर्क पेश किए हैं वे इसी प्रकार के स्वाभाविक तथ्यों पर निर्भर हैं। उनका सारांश लेखक ने इस प्रकार प्रकट किया है।

(१) घट की उत्पत्ति होती है उसको उत्पन्न करने वाला एक 'कर्त्ता' होता है। इसी प्रकार यह जगत भी एक कार्य है। इसका भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई 'कर्त्ता' है। इतने विशाल और अटल नियमों पर चलते रहने वाले जगत का कर्त्ता अवश्य ही सर्वज्ञ होना चाहिए। वही कर्त्ता ईश्वर है।

(२) प्रलय-काल में समस्त कार्य-जगत परमाणु रूप में आकाश में रहता है। ये परमाणु जड़ हैं। पुनः सृष्टि के अवसर पर इन्हीं परमाणुओं में संयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और वे क्रमशः द्वयुणुक, त्र्यणुक के रूप में परिवर्तित होकर सृष्टि का विकास करने लगते हैं। परमाणुओं में इस संयोग की क्रिया को उत्पन्न करने के लिए किसी चेतन की आवश्यकता होती। उस समय कोई अन्य चेतन' पदार्थ नही होता। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व माना आवश्यक है, जिसकी इच्छा और प्रेरणा से परमाणुओं में क्रिया आरम्भ होती है। वह चेतन-तत्व ईश्वर ही है।

(३) जगत का कोई आधार होना आवश्यक है, अन्यथा इसका पतन हो जायगा। इसी प्रकार जगत रूप कार्य का नाश करने वाले की भी आवश्यकता है। साधारण मनुष्य इसका नाश नहीं कर सकता। अतः जो इस जगत का धारण करने वाला और नाश करने वाला है वही ईश्वर है।

(४) इस जगत की रचना में जो कला-कौशल दिखाई पड़ता है, उस सबको उत्पन्न करने वाला सृष्टि के आदि में कोई अवश्य होता है। वही प्रलय से पूर्वकाल में विद्यमान ज्ञान को फिर से आरम्भ करता है। ऐसा करने वाली शक्ति ही ईश्वर है।

(५) वेद को हम तभी प्रमाणिक मान सकते हैं जब उनका रचयिता भी सर्वथा प्रमाणिक हो। वेदों का रचयिता ईश्वर ही है। ईश्वर में सबकी श्रद्धा है इसलिए वेदों में भी सब की श्रद्धा है।

यदि यह शंका की जाय कि ईश्वर है तो हमको स्पष्ट अनुभव क्यों नहीं होता तो इसका कारण यहीं है कि ईश्वर अतीन्द्रिय तत्व है। अपनी इंद्रियों द्वारा तो स्थूल पदार्थों का अनुभव कर सकते हैं। पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईश्वर जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्व है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार हो सकता है। तो भी उसके कार्य को देखकर उसका अनुमान अनिवार्य रूप से होता है। यह इतना बड़ा, विचित्रतापूर्ण जगत, उसमें असंख्यों प्रकार के जीव, जन्तु, पशु-पक्षी, मनुष्य, वनस्पति, जल, स्थल, नदी, पर्वत, समुन्द आदि का अस्तित्व और उनको सदैव एक निश्चित नियम के अनुसार कार्य करते देखकर हमारे मन में स्वभावत: यह भाव उत्पन्न होता है कि इस सबका रचयिता—नियन्त्रणकर्त्ता कोई होना आवश्यक है। संसार की ये सब वस्तुयें कार्य रूप हैं तो इनका कोई कर्त्ता होना भी अनिवार्य है, वही ईश्वर है।

कुछ लोग इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि पृथिवी, समुन्द्र, पर्वत आदि की उत्पत्ति होती तो किसी ने देखी नहीं, फिर कैसे मान लिया कि इनको ईश्वर ने रचा है। न्याय-दर्शन इसका यह उत्तर देता है कि पृथ्वी, सागर आदि सावयव पदार्थ हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के परमाणुओं के मिलने से इनका निर्माण हुआ है। इस प्रकार का निर्माण कार्य, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो अवश्य ही किसी कर्त्ता की कृति होती है। जिस प्रकार आजकल हम प्राचीन खण्डहरों की जांच करते हैं और भूगर्भ में से जब कोई बनी हुई चीज— घड़ा, बर्तन, हथियार, जूता, कपड़ा आदि निकल आता है तो हम यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थल पर कभी अवश्य ही बुद्धि रखने वाले मनुष्य का अस्तित्व रहा होगा। क्योंकि कई प्रकार के पदार्थों को मिला कर किसी प्रयोजन के लिए कोई नई वस्तु बनाना बुद्धि युक्त चेतन व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। इसी प्रकार हम जब संसार में तरह तरह की अद्भुत रचना को देखते हैं, उसके भीतर कई प्रकार के प्राकृतिक नियमों को काम करते देखते हैं, जिनके द्वारा यह जगत का कार्य करोड़ों वर्षों तक स्थिर रह कर चलता रहता है, तो उसका कोई कर्त्ता अवश्य मानना पड़ता है और वही ईश्वर है एक दूसरी शंका निरीश्वरवादी और भी करते हैं कि मानलो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगत की रचना करने वाला ईश्वर है, तो वह कारण या प्रयोजन भी बतलाओ जिसके लिए उसने इसकी रचना की। उसकी यह प्रवृत्ति स्वार्थ-मूलक है या परार्थमूलक ? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ने अपने किसी स्वार्थ के लिये जगत को बनाया है—किसी प्रकार की इष्ट-प्राप्ति या अनिष्ट-परिहार उसका उद्देश्य है तो यह ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि वेद-शास्त्रों में ईश्वर को 'पूर्ण काम' भी कहा गया है। जिसे कोई कामना ही नहीं है, वह इस प्रकार का झंझट क्यों मोल लेगा ? यदि यह कहा जाय कि वह यह कार्य परोपकारार्थ अन्य जीवों पर करुणा करने की दृष्टि से करता है तो यह बात भी इस जगत को देखकर सत्य प्रतीत नहीं होती। यदि ईश्वर ने जीवों पर करुणा करके, उसके कल्याण के लिए संसार को रचा होता तो इसमें सब प्राणी सब तरह से सुखी दिखाई पड़ते। पर स्थिति इसके प्रतिकूल है। यहां पर अधिकांश प्राणी दुःखी अथवा अभावग्रस्त ही पाये जाते हैं और उनको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़े-बड़े कष्टों और खतरों का सामना करना पड़ता है। हम अधिकांश व्यक्तियों को दुःख और शोक का भाव प्रकट करते ही देखते हैं। तब यह भी कैसे मान लें कि ईश्वर ने जगत की रचना परार्थ दृष्टि से की होगी ?

इस आरोप का समाधान करते हुये न्याय-दर्शन ने यह प्रतिपादन किया है कि ईश्वर जगत की रचना जीवों के हितार्थ—उनके विकास की दृष्टि से करता है, पर उनके सुख और दुख की व्यवस्था उनके कर्मों के अनुसार ही करता है शुभ कर्म करने वाला सुख का अनुभव करता हैं और बुरे कर्म वाला दुःख पाता है। इस पर यदि यह कहा जाता कि तब तो कर्म ही ईश्वर से अधिक शक्तिमान हुआ, तो इसका उत्तर यह दिया गया है कि कर्म ईश्वर से बाहर की कोई चीज नहीं है। वह भी ईश्वर के भीतर होने से उसका एक अङ्ग है। इस प्रकार कर्म का नियम ईश्वर ने ही बनाया है और उसके कारण उसकी सत्ता और शक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरित्र और आचार—ईश्वर का अस्तित्व मनाने का परिणाम चरित्र और आचार पर पड़ा रहना अवश्यम्भावी है। न्याय-दर्शन में सांसारिक जीवन को दुःखमय माना जाता है, अतएव उनमें आसक्त होना अथवा हीन वासनाओं में लिप्त होना उसकी दृष्टि में सर्वथा हेय, त्याज्य है। उसके अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य सांसारिक लालसाओं और काम-नाओं को त्यागकर आत्मोत्थान के लिए ही प्रयत्न करना है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मिथ्याज्ञान को मिटाकर तत्वज्ञान को प्राप्त करे और उसी के अनुसार अपना जीवन-यापन करे। न्याय की शिक्षा के अनुसार यह संसार दुःखमय है इसलिए इसमें सुख का भ्रम करना और इन्द्रियों के विषय में फँसना पतन का द्वार है। यह 'दुःखवाद' का सिद्धान्त अनेक लोगों की दृष्टि में हानिकारक है, फिर भी यह हीन कोटि का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इस पर विश्वास रखने वाला पापों से अधिकांश में दूर रह कर शुद्ध आचरण ही रखेगा। इसलिए न्याय-दर्शन में स्थान स्थान पर मन और इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, आत्मा का ध्यान करके और चित्त को एकाग्र करके उच्च भावों का चिन्तन करने का उपदेश दिया है। इसके लिये उसमें भी योग-दर्शन के अनुसार यम-नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि का अभ्यास आवश्यक बतलाया है। इस मार्ग में जो अड़चन पड़ें उनको आत्म विद्या के ज्ञाताओं और सन्तजनों की संगति करके दूर करना चाहिए। इस प्रकार जब तत्व-ज्ञान की जानकारी हो जायगी और उसके अनुकूल आचरण होने लगेगा तो मोक्ष का द्वार स्वयंमेव खुल जायगा।

तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न्याय-दर्शन मुख्यतः प्रमाण शास्त्र और उसका प्रधान लक्ष्य तर्क द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय करना है। बाद के आचार्यों ने तो जिनमें मिथिला प्रान्त तथा बङ्गाल के अनेक पंडितों की विशेष रूप से गणना की गई है, उसे शास्त्रार्थ का साधन ही बना दिया है। हम अच्छी तरह जानतेहैं कि अब से पाँच-सात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सौ वर्ष पहले बङ्गाल में इस शास्त्रार्थ का प्रचार वहुत बढ गया था और यही पांडित्य का सबसे वड़ा लक्षण माना जाता था। मिथिला और बङ्गाल में उस काल में जयन्त भट्ट, गंगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, गङ्गाधर, आदि बड़े-बड़े नैयानिक विद्वान हुए, जिन्होने इस शास्त्र के सम्बन्ध में पचासों ग्रन्थ लिखे हैं और जिनका अभी तक देश में सर्वत्र पर्याप्त आदर है।

तर्क-शास्त्र भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय में भी प्रचलित था और रामायण, महाभारत तथा स्मृतियों में भी उसका उल्लेख मिलता है, उसके अनेक सिद्धान्तों की चर्चा भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलती है पर उसका वास्तविक रूप क्या था इनका ठीक-ठीक पता अब नहीं चल सकता। वर्तमान न्याय-दर्शन की रचना महर्षि गौतम ने, जिनका वास्तविक नाम अक्षपाद था तथा गोत्र गौतम था, बौद्धमत से सनातन-धर्म रक्षा के उद्देश्य से की है, ऐसा अनेक खोज करने वाले विद्वानों ने प्रमाणित किया है। अब से ढाई हजार वर्ष पहले जब बुद्ध का आविर्भाव हुआ और उन्होंने उस समय की यज्ञों की दूषित पद्धति को मिटाने के लिये अहिंसा और शून्यवाद का प्रचार आरम्भ किया तो उनके महान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर और स्वानुभवयुक्त दोनों उपदेशों को सुनकर बहुसंख्यक लोग उसकी तरफ आकर्षित हो जाते थे। यद्यपि उनको स्वयं जगत के दुःखों और जीवन की क्षणिकता का कोई अनुभव नहीं था पर सामयिक आवेश के कारण वे घर बार छोड़कर भिक्षु बन जाते और त्याग पर तपस्या का जीवन स्वीकार कर लेते। पर जब आरम्भिक जोश मिट जाता तो ऐसे लोगों की बड़ी दुर्दशा होने लगती। भिक्षु-जीवन के कठोर नियमों का पालन करना उसके लिए कठिन हो जाता। साथ ही पुनः घर में लौटकर गृहस्थ-जीवन बिताना उन्हें लज्जाजनक जान पड़ता। इस द्विविधा के कारण उस समय हजारों व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो रहा था और वे निकम्मे तथा उद्देश्य विहीन भिखारी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्र बनते चले जाते थे। घर के लोग तथा इष्ट-मित्र उनको अपनी भूल सुधार कर घर में रहने के लिए समझाते थे, पर बौद्ध धर्म के प्रभाव से वे तर्क की बातों के सिवाय अन्य बातों को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे ही अवसर पर अक्षपाद गौतम ने 'न्याय-दर्शन' की रचना की जिसमें तर्क द्वारा सत्य-असत्य और धर्म के स्वरूप का निर्णय करने का मार्ग-दर्शन किया गया था। इसकी सहायता से लोग बौद्धों के शून्यवादी तर्कों का खण्डन कर सकते थे, और जब शास्त्रार्थ में हार जाते तो पुनः अपने प्राचीन धर्म को स्वीकार करने को राजी हो जाते थे।

इस ग्रन्थ के अकाट्य तर्कों से जब बौद्ध विद्वान निरुत्तर होने लगे और उनके बहुसंख्यक अनुयायी उनको छोड़ने लगे तो वे छल-कपट का आश्रय लेकर इस ग्रन्थ को नष्ट करने के लिए इसमें झूठे और कल्पित सूत्र मिलाकर इसे दूषित करने का प्रयत्न करने लगे। यह देख कर वैदिकधर्मी विद्वानों ने इनकी रक्षा के लिये बहुत चेष्टा की और बार-बार इसका संशोधन किया। अन्तमें वाचस्पति मिश्र ने 'न्याय सूची निबन्ध' नाम का ग्रन्थ लिखकर इसके समस्त सूत्रों तथा उनके अक्षरों तक की गणना करके ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिससे किसी प्रकार की मिला-वट का तुरन्त पता चल जाय। इस प्रकार यह दर्शन भारतीय धर्म के इतिहास में बड़े महत्व का स्थान प्राप्त कर चुका है।

कहा जाता है कि प्राचीन काल में यूनान (ग्रीस) देश में भी 'दर्शन' का बड़ा प्रचार था और वहां के बहुसंख्यक व्यक्ति इसकी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। पर उनका उद्देश्य सांसारिक व्यवहार में चतुरता प्राप्त करना ही होता था। इनमें एक कारण यह भी था कि ग्रीस में वकीलों की प्रथा नहीं थी और इस कारण आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक व्यक्ति को अदालत में अपने अभियोग के सम्बन्ध में स्वयं ही बहस करनी पड़ती थी। भारतीय न्याय-दर्शन में भी यद्यपि शिष्य को प्रमाण और तर्क द्वारा किसी भी विषय पर चर्चा करने की शिक्षा दी जाती है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष परिस्थिति आने पर 'जल्प' 'छल' 'वितण्डा' जैसे उपायों से भी काम लेने की अनुमति दी गई है, पर उसका अन्तिम उद्देश्य 'निःश्रेयस' की प्राप्ति ही रखा गया है। यह भारतीयों मनीषियों की बहुत बड़ी विशेषता है कि जिन्होंने ज्ञान का प्रचार करने के साथ-साथ उसके सदुपयोग की शर्तें भी अनिवार्य रूप से लगा दी है। इसी बात के अभाव से आज योरोप तथा अन्य पश्चिमी देशों में ज्ञान-विज्ञान की बात अधिक उन्नति होने पर भी उसका परिणाम विपरीत दिखाई पड़ रहा है। जैसे जैसे विज्ञान द्वारा सुख सुविधा के साधन बढ़ रहे हैं, मनुष्यों की जानकारी अधिक होती जाती है, वैसे-वैसे ही उनकी अशान्ति, परेशानी, असुरता की भवना भी अधिक हो रही है। स्वार्थमूलक भावना की अधिकता के कारण उपलब्ध, ज्ञान, शान्ति और सन्तोष के बजाय संघर्ष, प्रतियोगिता और नाश का कारण बन रहा है। इधर भारत के प्रत्येक दर्शन-शास्त्र ने भिन्न-भिन्न मार्ग पर चलते हुए भी आरम्भ में ही यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि हम जिस ज्ञान का प्रचार कर रहे हैं उसका अन्तिम उद्देश्य आत्म-कल्याण करना है। संसार में रहते हुए भी इसके पदार्थों को इतना ज्यादा महत्व मत दो कि उसके फलस्वरूप आत्मा का पतन हो जाय और ईंट, पत्थर, धातुएँ उसकी अपेक्षा कीमती समझी जानी लगें। सांसारिक व्यवहार को करते हुए भी, दुष्ट, अन्यायी, आक्रमणकारी व्यक्तियों से अपने हितों की रक्षा करते हुए भी 'परामार्थ'(परमअर्थ) और 'निःश्रेयस' (सर्वोच्च हित) के लक्ष्य को न भुलाया जाय यही न्याय-दर्शन की शिक्षा है।

— श्रीराम शर्मा आचार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

न्याय-दर्शन

प्रथमोऽध्यायः- प्रथमाह्निकम्

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजाति निग्रहस्थाना तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ।१।

सूत्रार्थ--प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान इनके, तत्वज्ञानात्=तत्वज्ञान् के होने से, निःश्रेयस=मोक्ष की, अधिगम=प्राप्ति होती है।

व्याख्या—प्रमेय, संशय आदि सोलह प्रकार के प्रमाण कहे गये हैं। न्याय में यही सोलह पदार्थ माने जाते हैं। जिस साधन से प्रमाता विषयों को प्राप्त करता है, उस साधन को प्रमाण और ग्रहण किये जाने वाले विषय को प्रमेय कहते हैं। इन सबके तत्व को भली प्रकार जान लेने से मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।२।

सूत्रार्थ—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्=दुःख, जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्या-ज्ञान में, उत्तरोत्तरापाये=एक के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्चात् दूसरे से छुटकारा पाने पर, तदन्तरापायात्=उसमें अन्तर की प्राप्ति से, अपवर्गः=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—तत्व ज्ञान के प्राप्त होने से मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है और मिथ्या ज्ञान के मिटने पर राग-द्वेष आदि का नाश होता है। जब राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। तब विषयों की प्रवृत्ति भी रुक जाती है और प्रवृत्ति से नष्ट होने पर तो मनुष्य की कर्म से भी निवृत्ति हो जाती है। कर्म नहीं होता तो प्रारब्ध नहीं बनता और प्रारब्ध के न बनने से जन्म-मरण भी नहीं होता। जन्म-मरण ही सुख-दुःख रूप है, जब सुख-दुःख नहीं तो मोक्ष सिद्ध हो गया। इस प्रकार सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव हो जाने को ही मोक्ष की प्राप्ति समझना चाहिए।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।३।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः=प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, प्रमाणानि=यह चारों प्रमाण कहे गये हैं।

व्याख्या—प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जब किसी पदार्थ को सिद्ध करना होता है, तब इन चार प्रकारों से ही उस पदार्थ का ज्ञान हो सकता है। अगले सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का निरूपण करते हैं—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।४।

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नम्=इन्द्रिय और उसके विषय के संयोग से उत्पन्न होने वाला, ज्ञानम्=ज्ञान, अव्यपदेश्यम्==न कहा गया, अव्यभिचारि=व्यभिचार दोष से रहित और, व्यवसायात्मकम्=सन्देह से रहित होने के कारण, प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष सिद्ध प्रमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—इन्द्रिय और उसके विषय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जैसे अमुक व्यक्ति चल रहा है, अमुक व्यक्ति भोजन कर रहा है। जब नेत्र इन विषयों को प्रत्यक्ष देखता है, तब उसमें सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। नेत्र जिस दृश्य को होते हुए प्रत्यक्ष देख रहा है, वह पहले से कहा गया भी नहीं होता और प्रत्यक्ष घटित होने से वह ज्यों का त्यों दिखाई देगा, इसलिए उसके घटने बढ़ने का दोष भी नहीं होता। इसलिए जो प्रत्यक्ष है, वह प्रमाण सर्वोपरि और अकाट्य माना जाता है। अब अगले सूत्र में अनुमान प्रमाण का विवेचन किया जाता है।

अथ तत्पूर्वकंत्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टंच ।५।

सूत्रार्थ—तत्पुर्वकम्=लक्षण के द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह, अनुमानम्=अनुमान है, च=और वह अनुमान, पूर्ववत्=कारण से कार्य का तथा, शेषवत्=कार्य से कारण का प्रयोजन होने से, सामान्यतोदृष्टश्च=सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा गया है। यह अनुमान, त्रिविधम्=तीन प्रकार का है।

व्याख्या—लक्षक को देखकर जिस किसी वस्तु का ज्ञान होता हैं उसे अनुमान कहते हैं। जैसे सींग, मूंछ के अन्त में बाल, चार पांव, कंधा उठा हुआ और कण्ड के नीचे मांस लटकता हुआ होने से गौ का अनुमान होता है। ऐसे पशु को देखते ही सामान्य रूप से सभी लोग उसे गाय समझ लेते हैं, इसलिए इसे सामान्य तो दृष्ट अनुमान कहा गया है। जहाँ कारण को देख कर कार्य का अनुमान हो अर्थात् आम के वृक्ष को देखकर अनुमान किया जाय कि इस पर जो फल लगेंगे, वे आम के ही होंगे— यह पूर्ववत् अनुमान है तथा कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो, जैसे पुत्र है तो पिता अवश्य होगा— ऐसा अनुमान शेषवत्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहा गया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनुमान प्रमाण के जो तीन भेद न्याय में कहे गए हैं वे उचित हैं। अब उपमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है।

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।६।

सूत्रार्थ—प्रसिद्ध साधर्म्यात्=प्रसिद्ध पदार्थों के समान् धर्म से, साध्यसाधनम्=साध्य के साधन को, उपमानम्=उपमान प्रमाण कहा गया है।

व्याख्या - किसी पदार्थ में प्रसिद्ध पदार्थ के से लक्षण हों और उसकी पहिचान उस प्रसिद्ध पदार्थ का नाम लेकर कह देने मात्र से हो जाय, उसे उपमान प्रमाण कहा जायगा। जैसे किसी नील गाय को देख कर कह दें कि यह गौ के समान है अथवा नील गाय को गाय के समान देखकर यह समझ लें कि यह नील गाय होगी, तो ऐसा अनुमान उपमान प्रमाण कहा जाता है।

आप्तोपदेशः शब्दः ।७।

सूत्रार्थ—आप्तोपदेशः=आप्त पुरुषों का उपदेश, शब्दः= शब्द प्रमाण समझना चाहिये।

व्याख्या—आप्त पुरुष उन्हें कहते हैं जो सदाचारी, ज्ञानी, विद्वान और मोक्ष की कामना वाले तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों। ऐसे व्यक्ति कभी मिथ्या भाषण नहीं करते और योग आदि की साधना लगे रहने से उन्हें जो सिद्धि होती है, उसके द्वारा वे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को जानने में भी पूर्ण समर्थ होते हैं। वे अपने योगबल से अप्राप्त विषयों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे पुरुष जो बात कहें, उसे प्रमाणित माना जाता है। इसलिए सूत्रकार ने आप्तजनों के उपदेश को 'शब्द प्रमाण' कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सः द्विविधो दृष्टा दृष्टार्थत्वात् ।८।

सूत्रार्थ—दृष्टादृष्टार्थत्वात्=दृष्ट और अदृष्ट के भेद से, सः=वह, द्विविधः=दो प्रकार का माना जाता है।

व्याख्या - आप्त शब्द के भी दो भेद हैं- दृष्ट और अदृष्ट। जो विषय प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, उसके सम्बन्ध में कहा गया शब्द 'दृष्ट' कहा जाता है तथा जिस विषय को अनुमान से बताया गया हो, उसे अदृष्टशब्द कहा गया है। जैसे कोई कहे कि 'पुत्र की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे, इसमें यज्ञ करने से उसके फल रूप पुत्र का उत्पन्न होना नेत्र से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ेगा। परन्तु, यदि कहा जाय कि स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' तो यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का देखा जाना इस शरीर से सम्मव नहीं हैं। इसलिए इसे अदृष्ट शब्द कहा गया है। अब, अगले सूत्र में प्रमेय का विवेचन करेंगे।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।९।

सूत्रार्थ—आत्म शरीरेन्द्रियार्थ.........=आत्मा, शरीर, इन्द्रिय अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल: दु.ख और मोक्ष. तु=यह बारह, प्रमेयम्=प्रमेय कहे गये हैं।

व्याख्या—आत्मा, शरीर आदि बारह प्रकार के प्रमेय बताये हैं। परन्तु यथार्थ रूप में जिसके ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति हो, और जिसके ज्ञान से विपरीतता होने पर बन्धन की प्राप्ति हो, वही प्रमेय है। जैसे—आत्मा और परमात्मा, इस प्रकार आत्म के दो भेद हैं। इनमें परमात्मा तो निर्लिप्त और आत्मा अपने कर्म का फल भोगने वाला है। उन कर्मों के फल को भोगने के साधन रूप में इन्द्रियां हैं और भोगने योग्य पदार्थ इन्द्रियों के विषय हैं, इनका अनुभव इन्द्रियों से ही होता है। परन्तु, इन्द्रियों से सब पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, इसलिये परोक्ष पदार्थों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान करने वाला मन है । मन में राग और द्वेष दो प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती रहती है । यह दोनों दोष हैं, जिनमें पदार्थों को त्यागने और ग्रहण की प्रवृत्ति होती रहती है । जन्म-मरण प्रेत्यभाव है और अच्छे या बुरे कर्मों का उपभोगही फल है । यह फल भी दो प्रकार का है—बुरे कर्मों से दुःख और अच्छे कर्मों से सुख की प्राप्ति होती है । अत्यधिक सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है, जिसमें दुख का अत्यन्त प्रभाव हो जाता है । अब अगले सूत्र में आत्मा का लक्षण कहते है ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिंगा मिति ।१०।

सूत्रार्थ—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्य=इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, इति=यह, आत्मानः=आत्मा के लिंगम=लक्षण कहे गये हैं ।

व्याख्या—आत्मा के छै लक्षण हैं—(१) इच्छा—जिस वस्तु से पहले सुख मिला, उसी वस्तु की प्राप्ति का विचार इच्छा कहा जाता है । (२) द्वेष जिस वस्तु से पहले कष्ट प्राप्त हो, उस वस्तु को देखकर उससे बचने के विचार को द्वेष कहा गया है । (३) प्रयत्न दुःख के कारणों को दूर करने और सुख के कारणों को प्राप्त करने वाले कार्य को प्रयत्न करते हैं । (४) सुख जो शरीर को कष्ट न दे वह सुख है । (५) दुःख—जिसकी प्राप्ति से शरीर को कष्ट को वह दुःख है । और (६) ज्ञान—आत्मा या देह के अनुकूल पदार्थों का जानना हो ज्ञान कहा गया है । अब शरीर का विवेचन करते हैं ।

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।११।

सूत्रार्थ=चेष्ट-इन्द्रियार्थ-आश्रमः=जो चेष्टा, इन्द्रिय और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके विषयों के लिये आधार रूप है, उसे, शरीरम्=शरीर अथवा देह कहा जाता है।

व्याख्या—जीव को अपने प्रारब्ध कर्म का भोग करने के लिए जन्म धारण करना होता है : सुख और दुःख की प्राप्ति भोग कहा गया है और जिस आधार में रह कर आत्मा उस भोग को प्राप्त कर सकें, वह आधार ही शरीर है। अब इन्द्रिय का लक्षण तथा भेद कहा जाता है।

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।१२।

सूत्रार्थ—घ्राणरसनचक्षुः=घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्श्रोत्राणि =त्वचा और श्रोत्र, यह पांचों, इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ, भूतेभ्यः =भूतों से उत्पन्न हुई हैं।

व्याख्या—पांचों इन्द्रियां पञ्चभूतों से बनी कही जाती हैं। यह इन्द्रियां ही शरीर के आश्रित आत्मा को विभिन्न विषयों का ग्रहण कराती हैं। घ्राण अर्थात् नासिका का कार्य सूंघना और गन्ध ग्रहण करना है, इसके द्वारा आत्मा को गन्ध का ज्ञान होता है। रसना अर्थात् जिह्वा खाद्य पदार्थ का स्वाद ग्रहण करती है। नेत्र उपस्थित दृश्य को देखते हैं। त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। श्रोत्र अर्थात् कान शब्द को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह पाँचों इन्द्रियां आत्मा को गन्ध, रस, दृश्य, स्पर्श शब्द का ज्ञान कराती रहती हैं।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ।१३।

सूत्रार्थ—पृथिवी=पृथिवी, आपः=जल, तेज=अग्नि, वायुः=वायु, आकाशम्=आकाश, इति=यह पाँच, भूतानि= भूत कहे जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—यह पाँचों भूत परस्पर समवाय सम्बन्ध अर्थात् संयुक्त रूप से रहते हैं। यह पञ्चभूत वाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होकर आत्मा को अपने-अपने गुण का ज्ञान कराने में समर्थ हैं। अव भूतों के गुणों का वर्णन करते हैं।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।१४।

सूत्रार्थ—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दः=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पाँचों, पृथिव्यादिगुणाः=पृथिवी आदि पंचभूतों के गुण हैं, तदर्थाः=उन पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं।

व्याख्या—पाँच भूतों के पांच गुण हैं पृथिवी का गुण गन्ध है, जल का गुण रस है, अग्नि का गुण रूपहै, वायु का गुण स्पर्श है और आकाश का गुण शब्द है। यह पांचों गुणज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं—नासिका का विषय गन्ध, जिह्वा का विषय रस, नेत्र का विषय रूप, त्वचा का विषय स्पर्श और कान का विषय शब्द है। अव अगले सूत्र में वुद्धि का निरूपण किया जायगा।

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।१५।

सूत्रार्थ—बुद्धिः=बुद्धि, उपलब्धिः=प्राप्ति, ज्ञानम्=ज्ञान, इत्य नर्थान्तरम्=यह पर्यायवाची शब्द हैं।

व्याख्या—वुद्धि उपलब्धि और ज्ञान इनतीनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। यह घट है यह पट है इस प्रकार का ज्ञान कराने वाली वृत्ति वुद्धि का धर्म है और इन सव को ज्ञान कहा जाता है। मैं 'घड़े को जानता हूं' इस प्रकार का वोध 'उपलब्धि' है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि और उपलब्धि का ज्ञान में कोई भेद नहीं है। अव मन का लक्षण कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मनसोलिंगम् ।१६।

सूत्रार्थ—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः=इन्द्रियों का अपने विषयों से जो सम्बन्ध है, उससे भिन्न ज्ञान की उत्पत्ति, मनसः=मन के लिङ्गम्=लक्षण समझाने चाहिये।

व्याख्या—आत्मा की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के साथ समान ज्ञान होना ही विषय ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि मन को एक समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते। जब गन्ध का ज्ञान होगा, तब अन्य गुणों का नहीं होगा, रूप का होगा तब गन्ध आदि का नहीं होगा। इस प्रकार एक समय में एक विषय का ज्ञान होना मन का लक्षण है। अब प्रवृत्ति का लक्षण करते हैं।

प्रवृत्तिर्वाग बुद्धि शरीरारम्भ इति ।१७।

सूत्रार्थ वाग्बुद्धि शरीरारम्भः=वाणी, मन और शरीर से होने वाला कर्म। इति=यह, प्रवृत्ति=द्वारा ही होना समझना चाहिये।

व्याख्या—इच्छा पूर्वक होने वाले शरीर आदि कार्यों को प्रवृत्ति-जनक समझना चाहिए। क्योंकि यह कार्य मन, वाणी और शरीर से होता है। जो कार्य केवल मन से होता है, उसे मानसिक कार्य कहते हैं, मन और वाणी दोनों के सयोग से होने वाला कर्म वाचिक है, तथा मन, इन्द्रिय और शरीर के संयोग से जो कार्य होता है, वह शारीरिक कहा गया है। जिस कर्म का फल सुख रूप हो, वह पुण्य कर्म है और जिसका फल दुःख रूप हो उसे पाप कर्म समझना चाहिए। इस प्रकार पुण्य और पाप भेद वाली दश वृत्तियाँ होती है। अब दोष का विचार करेंगे।

प्रवर्त्तना लक्षणा दोषः ।१८।

सूत्रार्थ—प्रवृत्तना=प्रवृत्ति के, लक्षणा=लक्षण वाला, दोषः =दोष कहा गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—धर्म या अधर्म के हेतु प्रवृत्ति का होना दोष है अर्थात् जिस प्रवृत्ति से धर्म या अधर्म कार्य की सिद्धि होती हो, उसे दोष मानना चाहिए। प्रवृत्ति के कारण रूप, राग, द्वेष और मोह है। इनके होने पर ही धर्म या अधर्म कार्यों में प्रवृत्ति होता है।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः १९।

सूत्रार्थ—पुनः=बारम्बार, उत्पत्ति=जन्म लेना, मरना, प्रेत्यभावः=प्रेत्यभाव कहा गया है।

व्याख्या—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जन्म लेना प्रेत्यभाव है। पुनर्जन्म या पुनरुत्पत्ति पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर से इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध टूट जाने को प्रेत कहते हैं। पुनः जन्म लेने को प्रेत्यभाव अर्थात् मर कर जन्म लेना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा का शरीर से निकलना प्रमाण है और प्रयाण करने वाले को प्रेत कहते हैं और उस प्रेत का दूसरे शरीर से सम्बन्ध हो जाना प्रेत्यभाव है। अब फल का निरूपण करते हैं।

प्रवृत्तिदोष जनितोऽर्थः फलम् ।२०।

सूत्रार्थ—प्रवृत्तिदोषजनितः=प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न हुआ, अर्थः=विषय, फलम्=फल है

व्याख्या—सुख या दुःख की प्राप्ति को ही फल कहते हैं, इसकी उत्पत्ति प्रवृत्ति और दोष से होती है। धार्मिक प्रवृत्ति से किया गया कार्य सुखदायक और अधार्मिक प्रवृत्ति वाला कार्य दुःख उत्पन्न करने वाला होता है।

बाधनालक्षणं दुःखम् ।२१।

सूत्रार्थ—बाधना=इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा, दुःखम=दुःख का, लक्षणम्=लक्षण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या · मन जिस किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहे और वह वस्तु न मिले तो उससे दु ख होता है । अब मोक्ष का निरूपण करते हैं–

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः ।२२।

सूत्रार्थ––तदत्यन्त विमोक्षः=उस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही, अपवर्ग=मोक्ष है ।

व्याख्या––दुःख के तीन भेद हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छुटकारा मिल जाय, वही मोक्ष है । इन दुःखों से छुटकारा तभी हो सकता है, जब जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाय और यह चक्र तभी समाप्त होगा जब कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जायेगा । कुछ लोग शंका करते हैं कि सुषुप्ति को ही मुक्ति क्यों न मानल ? क्योंकि उसमें भी दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, तो इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति में दुःखों का आधार सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है, मुक्तावस्था में सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता । अब संशय का विवेचन करते हैं—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्ते रुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्चविशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।२३।

सूत्रार्थ––समानानेकधर्मोपपत्तोः=समान तथा अनेक धर्म की प्राप्ति, विप्रतिपत्तोः=अप्राप्ति, च=और उपलब्ध्यनुपलब्ध्य=उपलब्धि और अनुपलब्धि की, व्यवस्थातः=व्यवस्था होने से विशेषापेक्षाः=विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से, विमर्शः=एक वस्तु में विपरीत ज्ञान का होना ही, संशय=संदेह है ।

व्याख्या––एक ही वस्तु में समान धर्म के प्रत्यक्ष होने और उसके विशेष धर्म अप्रत्यक्ष रहने से उसी वस्तु में दो, परस्पर विरोधी भावों का उत्पन्न होना संशय अथवा भ्रम है । जैसे अंधेरे में रस्सी को देखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और उसे सर्प के आकार का पाकर उसके सर्प होने का भ्रम हो गया। उस समय रस्सी के धर्म अप्रत्यक्ष हो जाते हैं और सर्प के लक्षण ही दिखाई देते हैं। इसलिए, सूत्रकार ने इस अवस्था को 'संशय' कहा है। अब प्रयोजन किसे कहते हैं, इसे अगले सूत्र में बताते हैं।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ।२४।

सूत्रार्थ—यम्=जिस, अर्थम्=अर्थ के, अधिकृत्य=अधिकार से, प्रवर्त्तते=प्रवृत्ति होती है, तत्=उस अधिकार को, प्रयोजनम्=प्रयोजन कहते हैं।

व्याख्या—ग्रहण और त्याग रूप प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली इच्छा का ही अर्थ अधिकार है। क्योंकि उस अर्थ अधिकार के द्वारा ही हानि या लाभ की प्राप्ति कराने से सम्बन्धित विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी को सूत्रकार ने प्रयोजन कहा है। अब दृष्टान्त का निरूपण करेंगे।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि साम्यं स दृष्टान्तः ।२५।

सूत्रार्थ—यस्मिन्=जिस, अर्थे=पदार्थ में, लौकिकपरीक्षकाणाम्=सांसारिक और परीक्षा करने वाले मनुष्य की, बुद्धिसाम्यम्=बुद्धि समान पाई जाय, स=वह, दृष्टान्तः=दृष्टान्त है।

व्याख्या—सांसारिक तो सभी जीव हैं, परन्तु इस सूत्र में सांसारिक शब्द का विशेष प्रयोग इस अर्थ का सूचक है कि जिसको शास्त्र आदि का ज्ञान न हुआ हो और परीक्षक उसे कहा है जिसे सभी पदार्थों का ज्ञान हो। इस प्रकार सांसारिक और परीक्षक दोनों प्रकार के मनुष्यों की बुद्धि जिस विषय में समान हो, उसे दृष्टान्त समझना चाहिए। अब अगले सूत्र में सिद्धान्त का लक्षण बताते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ।२६।

सूत्रार्थ—तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः=प्रमाण से सिद्ध हुए बाधा रहित निर्णय को, सिद्धान्तः=सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या—प्रमाण से सिद्ध हुआ निर्णय सिद्धान्त है। सिद्धान्त तीन प्रकार के हैं-(१) तन्त्र सिद्धान्त, (२) अधिकरण, (३) अभ्युपगम इसमें तन्त्र सिद्धान्त दो प्रकार का है। इसका वर्णन अगले सूत्र में स्वयं सूत्रकार ने किया है।

सर्वतन्त्र प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगम संस्थित्यर्थान्तर-भावात् ।२७।

सूत्रार्थ—सर्वतन्त्र=सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र=प्रतितन्त्र, अधिकारण=अधिकरण और, अभ्युपगम=अभ्युपगम, संस्थिति=अर्थान्तर, भावात्=सिद्धान्त के भेद हैं।

व्याख्या—सर्वतन्त्र प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम यह चार भेद कहे हैं। सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र यह दोनों तन्त्र सिद्धान्त के भेद होने से सिद्धान्त तीन प्रकार का ही माना जाता है। अगले सूत्र में सर्वतन्त्र सिद्धान्त का निरूपण करेंगे।

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।२८।

सूत्रार्थ—सर्वतन्त्राविरुद्धः=जिसकी किसी शास्त्र से विरुद्धता न हो और, तन्त्रे=किसी एक शास्त्र में, अधिकृतः=कहा जाय, वह, अर्थः=अर्थ, सर्वतन्त्र सिद्धान्त=सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

व्याख्या—किसी शास्त्र से विरोध न हो और एक शास्त्र में कहा जाय, वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो उपदेश किसी एक शास्त्र में हो और अन्य शास्त्रों में न हो, परन्तु उस उपदेश का किसी भी शास्त्र में विरोध न हो, तो वह उपदेश सर्वमान्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने से सर्वतन्त्र सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसे कहा जाय कि 'नेत्र से दिखाई देता है किसी भी शास्त्र में इस कथन का विरोध नहीं मिलता, इसलिए नेत्र से दिखाई देना सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। अगले सूत्र में प्रति-तन्त्र सिद्धान्त का निरूपण करते हैं।

समानतन्त्र सिद्धः परतंत्रासिद्धः प्रतितन्त्र सिद्धान्तः ।२६।

सूत्रार्थ—समानतन्त्रसिद्धिः=एक शास्त्र द्वारा प्रतिपादित, परतन्त्रा सिद्धः=दूसरे शास्त्र के असिद्ध अर्थ को, प्रति-तन्त्रसिद्धान्तः=प्रतितन्त्र सिद्धान्त समझना चाहिए।

व्याख्या—एक शास्त्र जिस अर्थ को प्रतिपादित करता हो परन्तु अन्य शास्त्र उस अर्थ को मान्य करें तो उस अर्थ को प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहेंगे। जैसे नैयायिक संसार की उत्पत्ति कर्मों से हुई बताते हैं, परन्तु सांख्य शास्त्री वैसा न मानकर, कार्य को ही नित्य मानते हैं। यह प्रति-तन्त्र सिद्धान्त है।

अब अधिकरण सिद्धान्त का लक्षण कहते हैं—

यत्सिद्धावन्य प्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धांतः ।३०।

सूत्रार्थ—यत्सिद्धौ=जिसके सिद्ध होने पर, अन्य प्रकरण-सिद्धिः=दूसरे प्रकरण की सिद्धि होती हो, सः=वह, अधिकरण सिद्धान्तः=अधिकरण सिद्धान्त है।

व्याख्या—जिस उपदेश के सिद्ध हो जाने पर दूसरे विषय स्वयं सिद्ध हो जायें, उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। जैसे शरीर और इन्द्रियों से आत्मा का पृथक् अस्तित्व है, यह बात देखने और स्पर्श करने से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। यदि आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक न होती तो इन्द्रियों को अपने विषय का ज्ञान तो हो सकता था,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु जिस कार्य को अन्य इन्द्रियों ने ग्रहण कर रखा है, उसका ज्ञान कभी नहीं हो सकता था। इसे यों समझिये कि कोई व्यक्ति अपने नेत्र से एक वस्तु को देखता है और उसे हाथ से पकड़ कर कहता है कि जिसे देखा है, उसे उठाता हूँ। यदि आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक न होती तो उसे दोनों इन्द्रियों के कर्म का ज्ञान एक साथ नहीं हो पाता। यदि इसे और भी स्पष्ट करें तो जब मरण काल मे आत्मा शरीर से निकल जाती है, उस समय शरीर इन्द्रियों के सहित निश्चेष्ट पड़ा रहता है और अधिक पड़ा रहे तो उसमें दुर्गन्ध आने लगती है और अन्त में वह सड़ जाता है। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीर से प्रथक है—इसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।

अब अभ्युपगम सिद्धांत की व्याख्या कहते हैं—

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेष परीक्षणमभ्युपगम सिद्धान्तः ।३१।

सूत्रार्थ—अपरीक्षिताभ्युपगमात्=जिस पदार्थ की परीक्षा नहीं हुई उसे मानकर, तद्विशेष परीक्षणम्=उसकी विशेष परीक्षा करने को, अभ्युपगमसिद्धान्तः=अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या—बिना परीक्षा किये हुए पदार्थ को सिद्ध मानकर उसकी विशेष परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है। जैसे शब्द द्रव्य है ऐसा मानकर यह परीक्षा करना कि शब्द रूप द्रव्य नित्य है या अनित्य है। इसमें शब्द की सत्ता स्वीकार करने के बाद उसके नित्य होने या अनित्य होने की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त समझना चाहिए।

अगले सूत्र में अवयवों का निरूपण करते हैं—

प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।३२।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमन=प्रतिज्ञा, हेतु उदा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरण, उपनय और निगमन, अवयवा:=यह पाँच अवयव हैं।

व्याख्या – अनुमान वाक्य का एक देश अवश्य कहा गया है, अवयव के पाँच भेद हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अगले सूत्र में प्रतिज्ञा का विवेचन करते हैं।

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।३३।

सूत्रार्थ=साध्यनिर्देश:=साध्य को बताने वाले वचनों को, प्रतिज्ञा कहा जाता है।

व्याख्या—जिस वाक्य से पक्ष और साध्य का परस्पर विशेषण और विशेष भाव जाना जाये, वह प्रतिज्ञा है। अथवा जानने योग्य धर्म से धर्मों का निर्देश करना प्रतिज्ञा समझना चाहिए। जैसे कहें कि शब्द नित्य है, आत्मा चैतन्य है—यह प्रतिज्ञा है।

अब हेतु का लक्षण बताते हैं—

उदाहरण साधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ।३४।

सूत्रार्थ– उदाहरण साधर्म्यात=उदाहरण के समान धर्म से, साध्य साधनम्=साध्य को कहने वाले वाक्य को, हेतु=हेतु कहते है।

व्याख्या—उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना हेतु है। इसे युक्ति भी कहते हैं। जैसे प्रतिज्ञा में शब्द को अनित्य बताया गया उसकी युक्ति यह देना कि शब्द उत्पत्तिवान है और जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नित्य नहीं हो सकती। इस प्रकार उदाहरण से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना हेतु अथवा युक्ति कहा जायगा।

अब वैधर्म्य हेतु का लक्षण कहते हैं—

तथा वैधर्म्यात् ।३५।

सूत्रार्थ—वैधर्म्यात्=उदाहरण के विरुद्ध लक्षण होने से, तथा=साध्य को कहने वाले वाक्य वैधर्म्य हेतु कहे जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—उदाहरण के विरुद्ध धर्म से साध्य को सिद्ध करना वैधर्म्य हेतु है। जैसे शब्द उत्पन्न होने वाला होने से अनित्य कहा गया तो इसके विपरीत धर्म से जो उत्पन्न होने वाला नहीं है, वह नित्य होना चाहिए। इस प्रकार उदाहरण के विपरीत अर्थ से विपरीत हेतु की सिद्धि होती है। इसलिए इसे वैधर्म्य हेतु कहा गया है।

अब, उदाहरण का विवेचन करेंगे—

साध्य साधर्म्यात्तद्धर्म भावी दृष्टांत उदाहरणम् ।३६।

सूत्रार्थ—साध्य साधर्म्यात्=साध्य की समानता से, तद्धर्म-भावी=साध्य के धर्म का प्रतिपादन करने वाले, दृष्टान्त=उदाहरण को, उदाहरणम्=समान धर्म वाला उदाहरण कहते हैं।

व्याख्या—साध्य के समान धर्म वाला होने से अन्य पदार्थ के धर्म की समता बताना उदाहरण है। जैसे उत्पन्न होने वाली वस्तु उत्पन्न धर्म वाली कही जाती है और उत्पन्न होने के बाद नष्ट भी हो जाती है, इसलिये वह अनित्य हुई। इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाली वस्तु के उदाहरण से साध्य का अनित्यत्व सिद्ध हुआ है। इस प्रकार धर्मों का साध्य साधन भाव एक वस्तु में पाया जाना ही उदाहरण कहा जाता है। यह समान धर्मोदाहरण हुआ, अब वैधर्म्योदाहरण का लक्षण कहेंगे—

तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तद्विपर्य्ययात्=उसके विरुद्ध लक्षण से दृष्टान्त वाक्य को, विपरीतम्=वैधर्म्योदाहरण कहते हैं।

व्याख्या—साध्य के विपर्यय अर्थात् विपरीत लक्षण से जो उदाहरण होता है, उसे वैधर्म्योदाहरण कहा जाता है। जैसे घट, पट अनित्य हैं, क्योंकि वे उत्पन्न होने वाले हैं। जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, वे नित्य कहे जाते हैं। आकाश में उत्पत्ति धर्म का अभाव होने से घट, पट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के धर्म में विपरीत अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान को वैधर्म्यो दाहरण कहा जायगा।

अव, उपनय की व्याख्या की जाती हैं—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।३८।

सूत्रार्थ—तथा इति=यह उसी प्रकार है, वा=अथवा, न तथा=यह उस प्रकार का नहीं, इति=इस प्रकार, उदाहरण-पेक्षः=उदाहरण के आश्रय में रहे, साध्यस्य=साध्य के उप-संहारः=सारांश को, उपनयः=उपनय कहा जाता है।

व्याख्या—यह उसी प्रकार है अथवा यह उस प्रकार नहीं है। इस प्रकार के उदाहरण से साध्य का सारांश कहना उपनय है। इसमें उप-संहार अथवा सारांश उदाहरण के अनुसार होता है।

अब निगमन का लक्षण बताते हैं—

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ।३९।

सूत्रार्थ—हेत्वपदेशात्=हेतु का उपदेश होने से, प्रतिज्ञायाः =प्रतिज्ञा के, पुनर्वचनम्=दुबारा कथन करने को, निगमनम्= निगमन कहा गया है।

व्याख्या—हेतु के कहे जाने से, प्रतिज्ञा का फिर कहा जाना निगमन है। जैसे, किसी ने कहा कि पर्वत में अग्नि है, यह कहना प्रतिज्ञा हुई। इस प्रतिज्ञा का हेतु पूछा गया तो उत्तर मिला कि धुँआ उठ रहा है, इससे समझा जाता है कि धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। जब कहा कि उदाहरण दो कि धुँए के होने से अग्नि का होना किस प्रकार सिद्ध होता हैं ? तो उत्तर मिला कि रसोई अग्नि से बनती है और रसोई घर से धुँआ निकलता हुआ नित्य देखते हैं। इसमें धुँआ निकलना अग्नि की सिद्धि का हेतु है और रसोई घर की बात उदाहरण है, जहाँ धुँआ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है वहाँ अग्नि अवश्य होगी, यह उपनय है और धुँए को देखकर पर्वत में फिर अग्नि का बताना निगमन है। अब तर्क का लक्षण कहेंगे।'

अविज्ञाततत्ववेर्थेकारणापपत्तितस्तत्व ज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।४०।

सूत्रार्थ अविज्ञाततत्वे अर्थे=जिस पदार्थ का वास्तविक रूप मालूम न हो, तत्वज्ञानार्थम्=तत्व ज्ञान के निमित्त, कारणोपपत्तितः=कारण की उत्पत्ति से, ऊहः=कार्य की जो कल्पना की जाती है, वह तर्कः=तर्क कहा जाता है।

व्याख्या—किसी पदार्थ का वास्तविक रूप अज्ञात है, परन्तु तत्व ज्ञान के लिए, उसकी सिद्धि में जिन-जिन कारणों की कल्पना की जाय, उस कल्पना को तर्क कहते हैं।

अब निर्णय की व्याख्या करेंगे—

विमृश्यपक्ष प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ।४१।

सूत्रार्थ – विमृश्य=संशय के उत्पन्न होने पर, पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्=पक्ष और विपक्ष के द्वारा, अर्थावधारणम्=पदार्थ का निश्चय स्वीकार किया जाना, निर्णयं=निर्णय कहा गया है।

व्याख्या—किसी पदार्थ में संशय उत्पन्न हो जाये और उस पक्ष तथा विपक्ष वाली युक्तियों से यथार्थ रूप में समझ लिया जाय, वह निर्णय है। जैसे रात में रस्सी देखकर उसमें सर्प का संशय हुआ तो प्रकाश करके देखा और उसके पक्ष-विपक्ष वाले लक्षणों से यह जान लिया गया कि यह सर्प नहीं, रस्सी है। रस्सी के इस यथार्थ ज्ञान को निर्णय कहते हैं।

॥ प्रथमोऽध्यायः—प्रथमान्हिक समाप्तः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथमोऽध्यायः--द्वितीयाह्निकम

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नपक्ष प्रतिपक्ष परिग्रहोवादः ।१।

सूत्रार्थ--सिद्धान्तविरुद्धः=सिद्धान्त के अविरुद्ध प्रमाण तर्क साधनोपलम्भः=प्रमाण और तर्क से साधन अथवा उपलम्भ हो उस, पंचावयवोपपन्न=पाँच अवयवों से युक्त, पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहः=पक्ष और विपक्ष की सिद्धि का प्रकाश करने वाले वाक्य समूह को, वादः=वाद कहा जाता है।

व्याख्या—एक पदार्थ के विरोधी धर्मों के उल्लेख द्वारा प्रमाण तर्क साधन और उसकी कमियाँ बतलाने से तत्व के पक्ष-विपक्ष में प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पांच अवयवों के आधार से प्रश्नोत्तर करने को वाद कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि आत्मा है और दूसरा कहे कि आत्मा नहीं है। अब एक तो आत्मा के न होने में अपनी युक्तियाँ देता है और दूसरा आत्मा के न होने में तर्क आदि प्रस्तुत करता है, इसे 'वाद' कहना चाहिए। परन्तु, दो विरुद्ध वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों का कहा जाना 'वाद' नहीं माना जा सकता। जैसे एक ने कहा 'आत्मा नित्य हैं' दूसरे ने कहा शरीर अनित्य है, तो यह दो भिन्न पदार्थ नियत्व और अनियत्व विभिन्न धर्म में विममान होने से वाद का विषय नहीं हो सकते। क्योंकि एक वस्तु में तो परस्पर विरोधी धर्म रहेंगे नहीं और दो विरुद्ध धर्मवाली वस्तुओं का कथन किसी प्रकार के विवाद को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिए एक वस्तु की सिद्धि-असिद्धि के लिए खींचतान करना हो 'वाद' कहा जाता है। अब जल्प की व्याख्या करेंगे--

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथोक्तोपपन्नश्छलजाति निग्रह स्थान साधनोपालम्भो जल्पः ।२।

सूत्रार्थ—यथोक्तोपन्नः=प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भ के होने पर, छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपलम्भः =छल,जाति और निग्रह स्थानों द्वारा अपने पक्ष को सिद्ध करना और दूसरे पक्ष का निषेध करना, जल्पः=जल्प कहा जाता है।

व्याख्या—प्रमाण, तर्क आदि साधनों से युक्त छल, जाति और निग्रह स्थानों के आक्षेप द्वारा अपने अपने पक्ष का समर्थन करना जल्प है। प्रश्न यह उठता है कि वाद के भी यह लक्षण हैं फिर जल्प का पृथक् भेद क्यों कहा ? तो समाधान किया जाता है कि वाद में हार-जीत का प्रश्न नहीं होता, उसमें तो यथार्थ बात का निर्णय किया जाता है। परन्तु जल्प में जय और पराजय का उद्देश्य निहित होता है, इसलिए इसमें छल आदि से भी अपने पक्ष की सिद्धि करने की चेष्टा की जाती है। वाद में जय-पराजय का उद्देश्य न होने से छल आदि हथकण्डों से काम नहीं लिया जाता इसलिए, वाद के द्वारा सत्य-असत्य के निर्णय की चेष्टा ही की जाती है पर जल्प में असत्य पक्ष की भी सिद्धि के लिए छल-कपट, मिथ्या भाषण आदि सब प्रकार के हथकण्डों का प्रयोग किया जाता है। वाद और जल्प का यह भेद स्पष्ट है।

अगले सूत्र में वितण्डा का वर्णन करेंगे—

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।३।

सूत्रार्थ—प्रतिपक्ष स्थापना हीनः=एक दूसरे के पक्ष की सिद्धि से रहित, स=उस जल्प को, वितण्डा=वितण्डा कहा गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जिसमें किसी पक्ष वाले का कोई भी सिद्धान्त न हो और प्रत्येक पक्ष अपने प्रतिपक्ष को हराने के लिए छल आदि से उसके मत का खण्डन करे, इस विवाद को वितण्डा कहते हैं।

अब हेत्वभास का विवेचन करते हैं—

सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरण समसाध्य समातीत काला हेत्वाभासः ।४।

सूत्रार्थ—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्य सम और अतीत काल यह पाँच हेत्वाभास कहे गये हैं।

व्याख्या—हेत्वाभास के पाँच प्रकार हैं। विशेष रूप से हेत्वाभास वह है, जिसमें हेतु न हो और जो वास्तविक ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा परम्परा से समर्थित अनुमति का बाधक हो।

अब सव्यभिचार किसे कहते हैं, यह बताया जाता है—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ।५।

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकः=अनैकान्तिक, सव्यभिचारः=सव्यभिचार कहा जाता है।

व्याख्या—अनैकान्तिक व्यभिचार सहित को सव्यभिचार हेतु कहा गया है। यथार्थ में अव्यवस्था को व्यभिचार कहा जाता है। प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए ऐसा हेतु प्रस्तुत करना जो प्रतिज्ञा को छोड़कर अन्य स्थान पर भी चला जाय, सव्यभिचार कहा जायगा। जैसे कोई कहे कि शब्द स्पर्श वाला न होने से नित्य है, स्पर्श वाला घट या पट अनित्य देखा जाता है, तो शब्द स्पर्श वाला न होने से नित्य के विपरीत धर्म वाला होना चाहिए, इसलिए नित्य है। इस दृष्टान्त में स्पर्शपना और अनित्यपना साध्य साधन भूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार कहें कि जो स्पर्श-रहित है, वह नित्य है, जैसे आत्मा, तो यह भी ठीक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है, क्योंकि बुद्धि भी स्पर्श-रहित है, परन्तु, वह नित्य नहीं है। इस प्रकार दोनों दृष्टाओं में व्यभिचार उपस्थित होने से स्पर्शपना न होना यह हेतु सव्यभिचार है।

अब विरुद्ध हेत्वाभाव का लक्षण कहते हैं—

सिद्धांतमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ।६।

सूत्रार्थ—सिद्धान्तम्=साध्य के, अभ्युपेत्य=भाव पूर्वक कहने पर भी, तद्विरोधी=साध्य के अनुकूल न होना, विरुद्धः= विरोधी कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य के प्रमाण में उपस्थित होकर उसी का विरोध करने वाले हेतु को 'विरुद्ध हेतु' कहते हैं। जैसे कोई कहे कि 'पर्वत में अग्नि है' प्रमाण पूछा तो उत्तर दिया कि 'पर्वत स्रोत वाला है। परन्तु स्रोत अग्नि के विरुद्ध लक्षण वाला है इसलिए उससे अग्नि की सत्ता सिद्ध न होकर अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार यहाँ अग्नि को सिद्ध न करने वाला हेतु होने से स्रोत को विरुद्ध हेतु समझना चाहिए।

अब प्रकरणसम का लक्षण कहेंगे—

यस्मात्प्रकरण चिंता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ।७।

सूत्रार्थ—निर्णयार्थम्=साध्य का निश्चय पूर्वक, अपदिष्टः =कथन किया जाने पर भी, यस्मात्=जिसके द्वारा, प्रकरण चिन्ता=प्रकरण को सिद्ध करने की चिन्ता रहे. स=वह, प्रक-रण समः='प्रकरण सम' कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य को निश्चयपूर्वक कहने पर भी जिससे प्रकरण की सिद्धि न होती हो उसे प्रकरण-सम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिससे सत्य या असत्य होने में विश्वास न हो और वही वस्तु विवाद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रमाण रूप से प्रस्तुत करनी हो, तो वह 'प्रकरण-सम' कहना होगा। जैसे कोई कहे कि शब्द अनित्य है और उसे अनित्य होने में युक्ति दे कि शब्द उत्पत्तिवान है, इसलिए अनित्य है तो यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है कि शब्द उत्पत्तिवान है या नहीं ? इसलिए, यहाँ शब्द के अनित्यत्व में उत्पत्तिवान् होने की युक्ति को प्रकरण सम कहा जायगा।

अगले सूत्र में साध्य सम का निरूपण कहते हैं--

साध्य विशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ।८।

सूत्रार्थ—साध्यत्वात्=साध्यत्व होने से, साध्य विशिष्ट= साध्य के समान विशेषता वाला हो उसे, साध्यसमः=साध्य सम हेत्वाभास कहा जाता है।

व्याख्या—साध्य हेतु अथवा साध्य के समान हेतु को साध्य-सम कहते है। अर्थात् साध्य के समान, असिद्ध हेतु साध्य-सम है। जैसे कोई कहे कि छाया द्रव्य है और उसका हेतु पूछने पर कहा कि वह गतिमान है। परन्तु छाया गति वाली वस्तु है या नहीं यह बात भी किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध होनी चाहिए। इसलिए यहाँ छाया को द्रव्य बताकर उसे गति वाली कहना साध्यसम हेत्वाभास है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी असिद्ध वस्तु के प्रमाण में असिद्ध वस्तु का ही उदाहरण देना साध्य सम कहा जाता है। क्योंकि प्रथम तो साध्य का सिद्ध होना ही विवादग्रस्त था, फिर उसमें प्रमाण भी विवादग्रस्त ही दिया तो साध्य के समान ही हेतु भीं प्रमाणित करना होगा। इसीलिए इसे 'साध्य-सम' कहा गया।

अब कालातीत हेत्वाभास का निरूपण करते हैं।

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ।९।

सूत्रार्थ—कालात्ययापदिष्टः=समय के व्यतीत होने पर जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हेतु का कथन करें वह हेतु, कालातीतः=कालातीत कहा जाता है।

व्याख्या—जिस हेतु में काल का अन्तर हो अथवा जिसमें काल का अभाव हो या समय के बीतने पर उपस्थित किया जाय वह कालातीत है। जैसे कोई कहे शब्द नित्य है और उसके नित्य होने में युक्ति दी कि नेत्र का प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने पर घड़ा दिखाई देता है, प्रकाश न हो तो घड़ा दिखाई नहीं दे सकता, परन्तु प्रकाश के अभाव में घड़ा नष्ट नहीं होता, वह ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है, इसी प्रकार शब्द भी नित्य है, जब मुख से बोलते हैं, तब वह उत्पन्न होता है, बाद में नहीं होता। परन्तु शब्द के नित्य होने में यह युक्ति योग्य नहीं है। क्योंकि रूप का ज्ञान प्रकाश के साथ ही हो सकता है, परन्तु शब्द मुख से निकलने के बाद चुप हो जाने पर भी कालान्तर में दूर के मनुष्यों को सुनाई देता है। इसलिए इस हेतु को कालातीत हेत्वाभास कहा गया है।

अगले सूत्र में छल की व्याख्या की जाती हैं—

वचन विघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्य छलम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—अर्थ विकल्प उपपत्या=वाक्य कहने वाले के भाव से विरुद्ध अर्थ करके, वचनविघातः=वाक्य का खण्डन करना, छलम्=छल कहा जाता है।

व्याख्या—वाक्य कहने वाले का प्रयोजन कुछ हो परन्तु, उसका अर्थ उसके विपरीत कर दिया जाय, उसे छल कहते हैं। जैसे कोई कहे कि यह बम्बा है। कहने वाले का तात्पर्य नहर के बम्बे से है, परन्तु यदि वहाँ नल को बम्बे के रूप में प्रयुक्त करने से अपना कार्य बनता हो तो कह दें कि अमुक ने बम्बे का प्रयोग नल के लिए किया है। इस प्रकार का हेतु छल कहा जाता है।

अब छल के भेद अगले सूत्र में कहेंगे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचार-च्छलञ्चेति ॥११॥

सूत्रार्थ—वाक्छलम्=वाणी का छल, सामान्यच्छलम्=सामान्य प्रकार का छल. च=और, उपचारच्छलम्=उपचार छल, इस प्रकार, तत्=वह छल, त्रिविधं इति=तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या – छल के तीन प्रकार माने गये हैं (१) वाक् छल, (२) सामान्य, (३) उपचार। इनका प्रयोग वे लोग करते हैं जो अपने पक्ष को सिद्ध करने में तो समर्थ नहीं होते, परन्तु छल के द्वारा शास्त्रार्थं में विजय प्राप्त करना चाहते हैं। सूत्रकार ने अगले सूत्र में वाक्छल का लक्षण बताया है।

अविशेषाभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तर कल्पना वाक् छलम् ॥१२॥

सूत्रार्थ –अविशेष अभिहिते:अर्थे=साधारण शब्दों के द्वारा अभिप्राय कथन पर, वक्तु:=कहने वाले के, अभिप्रायात्=अभिप्राय की,अर्थान्तरकल्पना=विरुद्ध अभिप्राय वाली कल्पना का नाम, वाकछलम्=वाक्छल समझना चाहिए।

व्याख्या—जहां वक्ता साधारण शब्दों में अपने अभियोग को प्रकट करे, परन्तु उसके उस अभिप्राय का उल्टा अर्थ निकाला जाय, वही वाक्छल कहा जाता है। जैसे कोई कहे कि मेरे पास नव वस्त्र है, ऐसा करने से उसका अभिप्राय नये वस्त्र से हैं, परन्तु, उसका अर्थ नौ वस्त्र कहना वाक्छल है। क्योंकि नव का अर्थ नया और नौ दोनों ही हैं। अब सामान्य छल का लक्षण कहेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भवतोऽर्थस्याति सामान्य योगाद्संभूतार्थं कल्पना सामान्यच्चलम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—अतिसामान्ययोगात्=अत्यन्त सामान्य का योग होने से, सम्भवतः=जो अर्थ हो सकता है उसके प्रति, असम्भूतार्थं=जो अर्थ नहीं हो सकता उसकी, कल्पना=कल्पना करना ही सामान्य-छल समझना चाहिये।

व्याख्या—अत्यन्त सामान्य शब्दों के संयोग से जो अर्थ निकल सकता है, उसका उस प्रकार अर्थ न करके असम्भव अर्थ करना सामान्य छल है। जैसे कोई कहे कि 'यह ब्रह्मचारी विद्या और विनय से सम्पन्न है' उसका अर्थ करे कि 'यह ब्रह्मचारी विद्या और विनय, सम्पत्ति वाला है। इस प्रकार अभीष्ट अर्थ को तोड़-मरोड़ कर विपरीतार्थ कर देना सामान्य छल कहा जाता है।

अब उपचार छल की व्याख्या करेंगे—

धर्मविकल्प निर्देशेऽर्थसद्भाव प्रतिषेध-उपचारच्छलम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—धर्म-विकल्प-निर्देशे=धर्म विकल्प का निर्देश करने पर अर्थ, सदभाव प्रतिषेधः=वक्ता के प्रयोजन वाले अर्थ का निषेध करना, उपचार छलम्=उपचार छल कहा गया है।

व्याख्या—वक्ता अपने वाक्य का जो अभिप्राय रखता हो, उसके उस अभिप्राय को, धर्म-विकल्प का कथन करने पर, काटने की चेष्टा करना उपचार छल है। जैसे कोई कहे कि न्यायालय की बुलाहट है, इसकातात्पर्य हुआ कि न्यायाल में जो अधिकारी आदि हैं, वे बुला रहे हैं। परन्तु उसका खन्डन करते हुए कहना कि न्यायालय जड़ है उसकी बुलाहट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं हो सकती। इसलिए यह कहना मिथ्या है। इसी को उपचार छल कहते हैं।

वाक्छलमेवोपचारच्छलंतद्विशेषात् ॥१५॥

सूत्रार्थ—तद्विशेषात्=कल्पना की विशिष्टता न होने से, उपचारछलम्=उपचार छल, वाक्छलम्=वाक् छल यह दोनों, एवम्=एक ही समझने चाहिये।

व्याख्या—वाक्छल और उपचार छल में कल्पना का कोई भेद नहीं है, इसलिए दोनों को एक जैसा ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विरुद्ध अर्थ-ग्रहण से उपचार छल बना है, उसी प्रकार वाक्छल भी बनता है। इसमें वादी-प्रतिवादी की कथन शैली में ही किंचित् भेद होता है। परन्तु, पूर्व पक्ष का कहना है कि—

न तदर्थान्तर भातात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—तत्-अर्थ-अन्तर=वाक्छल और उपचार छल के अर्थ में भेद, भावात्=होने से, वे दोनों, न=एक नहीं माने जा सकते।

व्याख्या – वाक्छल और उपचार छल के द्वारा वक्ता के अभिप्राय को मिथ्या सिद्ध करना एक नहीं है। क्योंकि, वाक् छल में अनेक अर्थ वाले शब्द से वक्ता के भाव के विपरीत भावों को लेकर उसका खण्डन करते हैं। परन्तु उपचार छल में पदार्थ के अस्तित्व में जो विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुण हैं, उनके द्वारा उस पदार्थ के अस्तित्व का अभाव दिखाकर वक्ता के पक्ष का खण्डन किया है। इससे सिद्ध होता है कि वाक-छल और उपचार छल पृथक्-पृथक् हैं।

अविशेषे वायत्किञ्चित् साधर्म्यादिकच्छल प्रसंगः ॥१७॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, यत्किञ्चित=केवल साम्धर्म्य होने से,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविशेषे=एक ही मान लिये जाँय तो, एकच्छल प्रसङ्गः= एकच्छल वाद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या यदि इन दोनों में कुछ भेद अथवा विशेषता न मानी जायगी तो तुलनात्मक दृष्टि से दोनों एक ही रह जायेंगे। तो फिर उसका अलग-अलग वर्णन करना भी व्यर्थ था। यदि वह युक्ति छल के इन दो भेदों का समान धर्म वाला मानकर एक ही बताती है तो इससे तीन की अपेक्षा दो भेद ही रह जायेंगे और फिर उन दो भेदों में से साधर्म्यत्व मिलने पर एक ही प्रकार रह जायेगा, तो भेद रहेगा ही नहीं। इस प्रकार एक का खण्डन होने से दूसरे का भी खण्डन हो जायेगा।

साधर्म्य वैधर्म्याभ्याँ प्रत्यवस्थानं जातिः ॥१८॥

सूत्रार्थ—साधर्म्य वैधर्म्याभ्याम्=साधर्म्य और विरुद्ध धर्म से किये जाने वाले, प्रत्यवस्थानम्=खण्डन को, जातिः=जाति कहा गया है।

व्याख्या - समान धर्म और विरुद्ध धर्म के द्वारा जो खण्डन किया जाता है, उसे जाति कहते हैं। क्योंकि जो साध्य प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये अनुकूल हेतु प्रयोग में लाया करते है उसे वैधर्म्य हेतु कहते हैं। अब निग्रह स्थान कहते हैं—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रह स्थानम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—विप्रत्तिपत्तिः=विपरीत ज्ञान की प्राप्ति, च= और, अप्रतिपत्तिः=कहे हुये का न समझना, निग्रह स्थानम्= निग्रह स्थान समझना चाहिये।

व्याख्या—किसी के कहे हुए उपदेश को न समझना अथवा उनका उलटा अर्थ समझना यह निग्रह स्थान कहा गया है। किसी की बात का उत्तर न देना भी निग्रह स्थान ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थान बहुत्वम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—तद्विकल्पाद्=समान धर्म आदि दोष और विपरीत ज्ञान को उत्पन्न कराने वाले लक्षणों की विभिन्नता से, जातिनिग्रह स्थान बहुत्वम्=जाति और निग्रह स्थान भी अनेक हैं ।

व्याख्या—साधर्म्य और वैधर्म्य के अनेक प्रकार होनेसे और युक्तियों के विरोध से निग्रह स्थान और जाति अनेक प्रकार की हैं । साधर्म्य आदि दोषों के कारण जातियां चौबीस प्रकार की मानी गई है । प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं और वे एक दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं और परस्पर प्रतिकूल भी होते हैं । जैसे मनुष्य और पशु में प्राण समान रूप से है, परन्तु, आकार-प्रकार भेद तो हैं ही, साथ ही मनुष्य बुद्धिमान है और पशु में बुद्धि नहीं होती । इसी प्रकार मनुष्य भी न्यून या अधिक बुद्धि वाले होते हैं । अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहा जाता है और दूसरे के प्रश्न का उत्तर न देना, दूसरे की बात न समझना या उनका विपरीत अर्थ समझना आदि अप्रतिपत्ति है । इसी प्रकार निग्रह स्थान भी अनेक होते हैं ।

॥ प्रथमोऽध्यायः-द्वितीयाह्निक समाप्तः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीयोऽध्यायः- प्रथमाह्निकम्

समानानेक धर्माध्यवसायादन्यतरधर्म्याध्यवसायाद्वान संशयः ॥१॥

सूत्रार्थ--समानानेक धर्माध्यवसायात्=समान और अनेक धर्म के अध्यवसाय से, वा=अथवा, अन्यतर धर्माध्यवसायात्=दोनों में से किसी एक धर्म के अध्यवसाय से, संशयः=सन्देह, न=नहीं होता।

व्याख्या—समान और अनेक धर्मों का अथवा दो में से एक धर्म का ज्ञान होने से सन्देह नहीं होता। इस सूत्र के तीन अर्थ लिखे जाते हैं—(१) धर्म का ज्ञान होने से धर्मों में सन्देह नहीं रहता, क्योंकि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। जैसे गाय सींग वाली, पूँछ के अन्त में बाल वाली, गले में लटकते हुए चमड़े वाली होती है:—गाय के इस धर्म का ज्ञान हो तो गाय को देखते ही उसे पहिचान लिया जायगा, फिर उसमें सन्देह नहीं रहसकता। (२) अवधारण से अनवधारण रूपमें सन्देह नहीं रह सकता। क्योंकि कारण और कार्य समान रूप से ही होते हैं। इसलिए कारण को देखकर कार्य के अनुमान में सन्देह नहीं रहता। (३) दो में से एक के धर्म का निश्चय हो जाने पर भी सन्देह नहीं रहता। जैसे दो वस्तु समान लक्षण वाली हैं तो एक में लक्षण ज्ञान से दूसरी की पहिचान हो जायगी। जैसे गाय के लक्षणका ज्ञान है और जङ्गलमें नील गाय देखें तो तुरन्त उसका नील गाय होना समझ में आ जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसाच्च ॥२॥

सूत्रार्थ—विप्रतिपत्ति=विप्रतिपत्ति, च=और, अव्यवस्था ध्यवसायात्=अव्यवस्था के अध्यवसाय से भी सन्देह नहीं रहता।

व्याख्या—केवल विप्रतिपत्ति अथवा अव्यवस्था मात्र से भी सन्देह नहीं रहता। परन्तु, विप्रतिपत्ति का ज्ञान होना अर्थात् यह जान लेना कि यह विपरीत ज्ञान था, उसमें सन्देह उपस्थित हो जायगा। इसी प्रकार अव्यवस्था के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥३॥

सूत्रार्थ—च=और, विप्रतिपत्तौ=विरोध से अथवा, सम्प्रतिपत्तेः=मान लेने से भी संशय नहीं रहता।

व्याख्या—मान लेने या उसकी विशिष्टता का निश्चय हो जाने से संशय नहीं रहता, इसी निश्चयात्मक ज्ञान का नाम सम्प्रतिपत्ति है। जैसे एक विवाद का निर्णय करने वाले को दोनों पक्षों का मत सुन लेने पर किसी अर्थ विशेष के विरोध करने और उसे मान लेने का ज्ञान हो जाता है, तब वह यथार्थ क्या है? इसे समझने में समर्थ हो जाता है, और निश्चयपूर्वक अपना निर्णय दे देता है। उसी निर्णय को सम्प्रतिपत्ति कहा जायगा। परन्तु, जिसे दोनों पक्षों के वाद का ठीक ज्ञान नहीं, उसको विपरीतता के कारण संशय हो सकता है। जिसे पूर्ण ज्ञान है उसे विप्रतिपत्ति अर्थात् मिथ्या विरोध भी संशय में नहीं डाल सकता। इसलिए विप्रतिपत्ति को संशय का कारण नहीं मान सकते। अगले सूत्र में प्राप्ति, अप्राप्ति, अव्यवस्था के संशय का कारण होने में दोष का दिग्द-र्शन करायेंगे—

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥४॥

सूत्रार्थ—च=और, अव्यवस्था=प्राप्ति आदि की अव्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वस्था में संशय नहीं हो सकता, क्योंकि, अव्यवस्थाः=वह अव्यवस्था, आत्मनि=अपने स्वरूप में, व्यवस्थितत्वात्=व्यवस्थित है।

व्याख्या—अव्यवस्था अपने स्वरूप में स्थित है, इसीलिये प्राप्ति आदि की अव्यवस्था सन्देह का कारण नहीं हो सकती। किसी वस्तु के अस्तित्व में सन्देह होने का ज्ञान अथवा शून्य के प्रति सन्देहात्मक ज्ञान संशय को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि संशयात्मक ज्ञान को अपने अस्तित्व में भी संशय का कारण माना जाय तो पहले उसे शून्य मानना होगा, जिससे वह किसी का कारण हो सके। परन्तु ऐसा न होने से अव्यवस्था संशय का कारण नहीं हो सकती। अब समान धर्म का निरूपण करते हैं:

तथाऽत्यन्य संशयस्यद्धर्म सातत्योपपत्तेः ॥५॥

सूत्रार्थ—तथा=और, तद्धर्म सातत्योपपत्तेः=समान धर्म की सदा उपपत्ति होने के कारण, अत्यन्तसंशयः=अत्यन्त संदेह को प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—संशय के समय समान धर्म, विशिष्ट धर्म वाले के द्वारा ग्रहण करने से, अकेला ही ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार समान धर्म रूप कारण के विद्यमान रहने पर भी, उनसे उत्पन्न संशय सदा बना रहेगा। परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसलिए समान धर्म को संशय का कारण नहीं कह सकते। अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विनेषापेक्षात्संशये ना संशयो नात्यन्त संशयोवा ॥६॥

सूत्रार्थ=तद्विशेषापेक्षात्=उस विशेष धर्म की अपेक्षा से, यथोक्त=उस कहे गये, अध्यवसायात्=निश्चय से, एव=ही,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संशये=संशय की प्राप्ति होने पर, असंशयः=संशय-रहित, न=नहीं होता, वा=अथवा, अत्यन्त संशयः=अत्यन्त संशय भी न=नहीं रहता।

व्याख्या—संशय का उत्पन्न न होना अथवा उसके अस्तित्व का खण्डन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। क्योंकि, केवल समान अथवा विशिष्ट ज्ञान से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि उसका प्रमाण माँगें तो उत्तर यह है कि जिस सूत्र में समान धर्म के ज्ञान को संशयजनक कहा है, उसमें समान धर्ममात्र का ज्ञान संशयात्मक नहीं हो सकता। संशय तो समान धर्म के ज्ञान और धर्म विशेष की अपेक्षा का अर्थात् प्रत्येक विशेषण में जानने और नये विशेषण के जानने की इच्छा को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विशेष धर्म के प्राप्त न होने में उसके प्राप्त होने की इच्छा होती है, परन्तु प्राप्त हो जाने पर नहीं होती, क्योंकि विशेष धर्म जब प्रत्यक्ष हो जाता है, तब संशय का प्रश्न ही नहीं उठता। अब संशय की परीक्षा को दूसरे पदार्थों की परीक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं—

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तर प्रसंगः ॥७॥

सूत्रार्थ—यत्र=जहां (जिस पदार्थ के सम्बन्ध में), संशयः=संदेह हो। तत्र=वहाँ, एवं=संशय की परीक्षा के समान ही, उत्तरोत्तर=प्रश्नोत्तर का एक के बाद दूसरा, प्रसङ्गः=प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

व्याख्या—जिस-जिस शास्त्र अथवा विवाद में प्रयुक्त वाक्यों में सन्देह करके परीक्षा की जाय, वहां यदि सन्देह का निषेध होता है तो इसी प्रकार समाधान किया जा सकता है। इसीलिए सबसे पहले सन्देह की परीक्षा का आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जहां-जहां संदेह होता है, वहां-वहां प्रश्नोत्तर करके परीक्षा की जाती है इससे सिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है कि प्रश्नोत्तर और परीक्षण को देखकर प्रत्येक मनुष्य संशय कर सकता है। इसलिये संशय को ही परीक्षा का कारण मानना चाहिए। यदि संशय न हो तो परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए पहिले संशय की ही परीक्षा का विधान हुआ। अब प्रमाण-सामान्य की परीक्षा करेंगे।

प्रयत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

सूत्रार्थ—त्रैकाल्यासिद्धेः=प्रमाण को सिद्ध करने वालेतीनों कालों में न होने से, प्रत्यक्षादीनाम्=प्रत्यक्ष आदि को अप्रामाण्यम्=प्रमाण के योग्य नहीं कह सकते।

व्याख्या—प्रमाण के द्वारा प्रमेय को तीनों काल में भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के कारण नहीं हो सकते। प्रत्येक प्रमाण का ज्ञान इन तीनों प्रकारों से ही हो सकता है— (१) प्रमेय के ज्ञान से पहिले प्रमाण का ज्ञान हो, (२) प्रमेय का ज्ञान करने के बाद प्रगाण का ज्ञान हो और, (३) प्रमाण प्रथा प्रमेय का ज्ञान साथ-साथ हो जाय। विपक्षी की युक्ति है कि प्रत्यक्ष प्रमाण त्रिकाल में प्रमाण को नहीं पाता। इसको विपक्षी ने अगले सूत्र में सिद्ध किया है—

पूर्वंहिप्रमाणसिद्धौनेन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्त्तिः ॥९॥

सूत्रार्थ—ही=अवश्य ही, पूर्वम्=प्रमाण से पूर्व, प्रमाणसिद्धौ=प्रमाण की सिद्धि न होने से, इन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्=इन्द्रियों के विषय सम्बन्ध से, प्रत्यक्षोत्पत्तिः=प्रत्यक्ष प्रमाण का उत्पन्न होना, न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि प्रमेय के ज्ञान से पहिले प्रत्यक्ष-प्रमाण का ज्ञान मानों तो इन्द्रिय और उसके विषय से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि प्रमेय को ज्ञान से पहिले मानते हैं। तथा जो इन्द्रिय के विषय सम्पर्क से उत्पन्न न हो, उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। जब वह प्रत्यक्ष के धर्म में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आ ही नहीं सकता तो उसे प्रत्यक्ष कहना ही विरुद्ध बात है। इससे यही मानना होगा कि जिस वस्तु की प्रत्यक्ष सत्ता न हो, उसके साथ करण आदि कारकों का सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए प्रमाण धर्म की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों रही। इस स्थिति में तो प्रमाण से पहिले प्रमाणको मानना पड़ेगा। परन्तु, यह प्रत्यक्ष के धर्म के विपरीत होने से प्रमाण की सिद्धि नहीं होती।

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—पश्चात्=प्रमाणः के पश्चात्, सिद्धौ--प्रमाण को सिद्धिं मान लेने पर, प्रमाणेभ्य=प्रमाण के द्वारा, प्रमेयसिद्धिः =प्रमेय की सिद्धिः, न=असम्भव है।

व्याख्या यदि यह मान लिया जाय कि प्रमेय ज्ञान के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान उत्पन्न हुआ है तो प्रमाण के द्वारा प्रमेय को सिद्ध नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि प्रमेय के ज्ञान के लिये प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि प्रमाण के विना ही प्रमेय की सिद्धि हो जाय तो प्रमाण से क्या लाभ? इसलिए प्रमेय ज्ञान के पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण की उत्पत्ति की बात कहना ठीक नहीं है। प्रमाण दृढ़तापूर्वक सिद्धि के लिए है यह कहना भी निरर्थक है। क्योंकि, वस्तु की योग्यता अथवा धर्म बनाने वाले साधन को प्रमाण कहते है। यदि विना साधन के ज्ञान की उत्पत्ति मानने लगे तो अन्धे को भी विना नेत्र दिखाई पड़ जाना चाहिए। यदि कहो कि नेत्र विना, रूप का ज्ञान नहीं हो सकता तो साधन के विना ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि प्रमेय ज्ञान के पश्चात् प्रमाण ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

युगपत्सिद्धौप्रत्यर्थं नियतत्वात्क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धिनाम् ॥११॥

सूत्रार्थ–युगपत्सिद्धौ=एक ही समय में दोनों की सिद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर, प्रत्यर्थं नियतत्वात=प्रत्येक विषय में नियत होने से बुद्धिनाम्=विवेक बुद्धि की, क्रमवृत्तित्व=क्रमवृत्तित्व का, अभावः=अभाव होना स्वीकार करना पड़ेगा।

व्याख्या—यदि ऐसा मानलें कि एक समय में ही प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान हो जायगा, तो यह मान्यता ठीक नहीं होगी क्योंकि मन में एक समय दो ज्ञान नहीं होते और प्रमाण-प्रमेय का एक साथ ज्ञान होना मान लेने पर मन को क्रम वृत्ति ही गड़बड़ हो जायगी। अर्थात् उनमें क्रमपूर्वक ज्ञान उत्पन्न होने का अभाव होकर एक साथ हीं अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे और उनके परिणाम स्वरूप उसकी निश्चयात्मक शक्ति समाप्त हो जायेगी। इससे सिद्ध हुआ कि दो ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना असम्भव है।

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१२॥

सूत्रार्थ – त्रैकाल्य-असिद्धेः=तीनों काल में सिद्धि न होने प्रतिषेध-अनुपपत्तिः प्रमाणों का निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—तीनों काल में सिद्ध न होने से खण्डन किया जाना सिद्ध नही होता। जैसे वादी का का प्रमाण को सिद्ध करने वाला न होने से प्रमाण की सिद्धि में प्रसङ्ग उपस्थित कर प्रमाण-सामान्य का निषेध किया परन्तु, यह निषेध कल्पना के ही अन्तर्गत है। तात्पर्य यह है कि सब प्रमाणों का भी निषेध स्वीकार करने पर प्रमाण का प्रतिषेध करने वाले प्रमाण का भी निषेध हो जायगा। और उसका अस्तित्व बराबर बना रहेगा। इसमें युक्ति यह है कि—

सर्व प्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधासिद्धिः ॥१३॥

सूत्रार्थ - च=तथा, सर्व प्रमाणप्रतिषेधात्=सब प्रकार के प्रमाणों का प्रतिषेध होने से, प्रतिषेधासिद्धिः=प्रमाण के प्रति षेध होने की सिद्धि नहीं हो सकती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—सब प्रकार के प्रमाणों का निषेध किया जाय तो भी प्रमाण का प्रतिषेध प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता। प्रमेष की सिद्धि प्रमाण के अन्तर्गत होने से निषेध रूप प्रमेय भी किसी प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध करना होगा। क्योंकि खण्डन का सत्य होने अथवा असत्य होने का निर्णय किसी न किसी प्रमाण के आधार पर ही होगा। यदि सब प्रमाणों के अस्तित्व को ही समाप्त कर दें तो खण्डन के पक्ष में भी कोई प्रमाण न रहेगा और स्वयं असिद्ध हो जायेगा।

तत्प्रामाण्ये व न सर्वं प्रमाणविप्रतिषेधः ॥१४॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तत्प्रामाण्ये=उसप्रतिषेध प्रमाण की मान्यता से, सर्वप्रमाण प्रतिषेधः=सब प्रकार के प्रमाणों का प्रतिषेध होना, न=नहीं बन सकता।

व्याख्या—प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के खण्डन को प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहें तो खण्डन के पक्ष में प्रमाण मिल जाय पर खण्डन को भी प्रमाण पर आधारित ही मानना होगा। तब जो खण्डन प्रमाण का ही खन्डन करे और प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध हो तो वह खन्डन ही नष्ट हो जायगा और फिर विपक्षी की विजय किस प्रकार हो सकेगी? इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अमान्य करना असत्य एवम् निराधार है। अब त्रिकाल में असिद्ध के प्रकारांतर को असिद्ध करते हैं—

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धे ॥१५॥

सूत्रार्थ—च=और, शब्दात्=शब्द के द्वारा, आतोद्यसिद्धि-वत्=वीणा आदि वाद्यों की सिद्धि के समान, तत्सिद्धेः=प्रमालों ली सिद्धि होने से, त्रैकाण तीनों काल में, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—शब्द के द्वारा वीणा आदि वाद्यों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी प्रकार प्रमाण भी सिद्ध है और उनकी तीनों काल में असिद्ध नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मान सकते । अर्थात् बजती हुई वीणा के पीछे होने वाले शब्द के द्वारा वीणा का अनुमान होता है, इसी प्रकार प्रमा के पहिले सिद्ध प्रमाणों का भी अनुमान होना सिद्ध है । अब दृष्टान्त से प्रमाण और प्रमेय की उत्पत्ति को बतलाते हैं ।

प्रमेयता च तुला प्रामाण्यावत् ।।१६।।

सूत्रार्थ—च=और, तुला प्रमाण्यात्=तराजू के प्रमाणित होने के समान, प्रमेयता=एक ही वस्तु में प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार करते हैं ।

व्याख्या—भार को मापने के साधन रूप तराजू को तुला कहते हैं और परिणाम ज्ञान के विषय अर्थात् भार रूप सोना, चांदी आदि द्रव्य को प्रमेय कहा जायगा। जैसे किसी वस्तु का भार जानना हो तो उसके लिए तराजू का उपयोग करना होगा । और भार की जानकारी बाँट से होगी । अब यदि बांट के सही होने की परीक्षा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाये तो उस बाँट को दूसरे बांट से तोलना होगा । इस प्रकार बाँट रूप प्रमेय ही उस बांट की सिद्धि के लिये प्रमाण बनता है । इससे सिद्ध हुआ कि जो वस्तु का ज्ञान का कारण होगी वह प्रमाण कही जायगीऔर ज्ञान का विषय होने पर उसी वस्तु को प्रमेय कहेंगे । इस प्रकार जैसा प्रसङ्ग हो, वहाँ वैसा ही समझना चाहिए ।

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानाँ प्रमाणान्तर सिद्धि प्रसंगः ।।१७।।

सूत्रार्थ—प्रमाणानाम्=प्रमाणों के, प्रमाणतः=प्रमाण से सिद्धेः=सिद्धि मानी जाय तो, प्रमाणान्तर सिद्धि प्रसङ्गः= प्रमाण के सिद्ध करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा ।

व्याख्या—यदि किसी प्रमाण को प्रमाण से सिद्ध करें तो उसके लिए जो प्रमाण दिया जायगा, उसे दूसरे प्रमाण से सिद्धकरना पड़ेगा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार प्रत्येक प्रमाण को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती रहेगी और प्रमाणों का क्रम कभी भी समाप्त नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है अनन्त प्रमाण भी किसी एक पदार्थ की सिद्ध नहीं कर पायेंगे और अन्त में उसे बिना प्रमाण ही स्वीकार करना पड़ेगा। अगले सूत्र में इसके अन्य दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेय सिद्धिः ॥१८॥

सूत्रार्थ—तद्विनिवृत्तेः=प्रमाण के बिना प्रमाण की सिद्धि से, प्रमाण सिद्धिवत्=प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के सिद्ध होने के समान, प्रमेय-सिद्धिः=प्रमेय की सिद्धि के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता होगी।

व्याख्या—प्रमाण के अभाव वाले प्रमाण को सिद्धि मान लेने पर, उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता स्वीकार नहीं की जायगी, तो बिना प्रमाण कोई वस्तु सिद्ध न होने वाले सिद्धान्त का भी खण्डन हो जायगा और तब प्रमेय की सिद्धि भी प्रमाण के बिना ही माननी पड़ेगी। जब, प्रमेय के बिना प्रमाण के सिद्ध हो गया तो प्रमाणों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। इस प्रकार प्रमाणों का स्वयं ही खण्डन हो जाता है। अब, इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

न प्रदीप प्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥१९॥

सूत्रार्थ—प्रदीप-प्रकाश-सिद्धिवत्=दीपक और प्रकाश की सिद्धि के समान, यत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि का कथन, न=नहीं बनता।

व्याख्या—जैसे दीपक से प्रकाश होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, दीपक का दिखाई देना या न देना प्रकाश पर निर्भर है। परन्तु दीपक के देखने के लिये किसी दूसरे नेत्र की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार नेत्र ही दीपक के होने, न होने का निर्णय कर देता है। इससे सिद्ध हुआ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जिन-जिन वस्तुओं को जाना जाता है, उन्हीं वस्तुओं के ज्ञान से उनके प्रत्यक्ष होने का अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकाश में घट-पट आदि वस्तुएं दिखाई देती है, वैसे ही प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि होने में अनवस्था दोष की प्राप्ति नहीं होती। अब प्रत्यक्ष की परीक्षा करेंगे —

प्रत्यक्ष लक्षणानुपहत्तिरसमग्र वचनात् ।२०।

सूत्रार्थ - असमग्र वचनात्=अपूर्ण वचन से, प्रत्यक्ष लक्षण अनुपपत्तिः=प्रत्यक्ष लक्षण ठीक नहीं बनता।

व्याख्या—प्रत्यक्ष के लक्षण में पूरी बात नहीं कहीं गयी, इसलिये प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक प्रकार व्यक्त नहीं होता। यदि कहें कि प्रत्यक्ष के लक्षण में क्या कमी है ? तो बताते हैं कि उसका पूरा कारण नहीं बताया गया। प्रत्यक्ष के लक्षण में बताया गया है कि इन्द्रियों के विषय से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, परन्तु इन्द्रियों के विषयों से किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आत्मा का मन से सम्बन्ध होता है और मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, तब वे इन्द्रियां अपनी अपनी विषय वस्तु को ग्र-ण करने में समर्थ होती हैं। जबकि आत्मा मन और इन्द्रिय तीनों का सम्बन्ध ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, तो केवल इन्द्रियों से ही उसकी उत्पत्ति मान लेना कभी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादि का जो लक्षण कहा वह अधूरा होने से ठीक नहीं माना जा सकता।

नात्ममनसो सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ।२१।

सूत्रार्थ—आत्ममनसः=आत्मा और मन के, सन्निकर्ष=संयोग का,अभावे=अभाव होने से, प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष की,उत्पत्तिः =उत्पत्ति, न=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—जैसे इन्द्रिय का विषय से संयोग न हो तो प्रत्यक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा का मन से सयोग न हो तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जैसे, मन कहीं और लगा हो कोई बात कहीं जाय तो उसका ठीक-ठीक प्रभाव नहीं पड़ता तथा नेत्र किसी विषय को सामने पाकर भी उसे नहीं देख पाते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती।

दिग्देशकालाकाष्टोष्वप्येवं प्रसङ्ग।२२।

सूत्रार्थ—एवम्=इसी प्रकार, दिग्देशकालाकोशेषु=दशा, देश, काल और आकाश का ज्ञान भी, प्रसङ्ग=प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

व्याख्या - दिशा, देश काल और आकाश के बिना भी कुछ प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए प्रत्यक्ष के वर्णन में इनका भी समावेश होना चाहिए था। क्योंकि, दिशा आदि के बिना किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अब, पूर्ण-पक्ष का समाधान करेंगे।

ज्ञान लिंगत्वादात्मनो नानवरोधः।२३।

सूत्रार्थ—आत्मनः=आत्मा का, ज्ञान=ज्ञान, लिङ्गत्वात् =लक्षण होने से, अनवरोधः=अवरोध का न होना, न=नहीं, होता।

व्याख्या—आत्मा का लक्षण ज्ञान है, इसलिए प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति में दिशा आदि जड़ वस्तुओं को कारण मानना निरर्थक है। आत्मा का ज्ञान के साथ नित्य सम्पर्क रहता है और जिस वस्तु का नित्य सम्पक हो, वह सामान्य होने से वर्णन करने के लिए आवश्यक नहीं है।

तदयौगपद्यलिंगत्वाच्च मनसः।२४।

सूत्रार्थ—च=और, तदयौगपद्यलिङ्गत्वात्=एक समय में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनेक ज्ञान का लक्षण न पाये जाने से, मनस=मनः के संयोग को कहने की, न=आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या--मन की स्थिति से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक समय में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। इसलिए आत्मा और मन के संयोग का वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब इन्द्रिय और विषय के संयोग की प्रमुखता बतावेंगे।

प्रत्यक्ष निमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थं सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ।२५।

सूत्रार्थ--प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्=प्रत्यक्ष निमित्त होने से, इन्द्रिय=इन्द्रिय, च=और उसके, अर्थ=विषय का, स्वशब्देन्=अपना शब्द, वचनम्=वचन कहा जाता है।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग ज्ञान मात्र का कारण है, इसलिए गौण और प्रत्यक्ष मात्र का कारण हो सकता है। अतः इन्द्रिय और उसके विषय का संयोग प्रमुख है, इसलिए उसका वर्णन किया गया है। इसका और भी कारण है जो अगले सूत्र में देते हैं।

सुप्तव्यासक्तमनसाञ्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्ष निमित्तत्वात् ।२६।

सूत्रार्थ--च=और, सुप्तव्यासक्तमनसाम्=सोते हुए और अत्यन्त लीन हुए पुरुष का ज्ञान, इन्द्रियार्थयोः=इन्द्रिय और उनके विषयों के सन्निकर्ष निमित्त्वात्=संयोग के निमित्त से प्रमुख है।

व्याख्या—जब मनुष्य सोते समय यह विचार कर लेता है कि मुझे रात्रि में अमुक समय उठकर अमुक कार्य करना है, तो उस इच्छित समय पर ही उसकी निद्रा भंग हो जाती है। परन्तु, संकल्प न करके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोने वाले पुरुष की निद्रा स्वयं भंग नहीं होती। वह शब्द आदि को सुन कर जागता है, क्योंकि उसे विषयेन्द्रिय के संयोग से ज्ञान होता है, इसलिए, इसमें आत्मा और मन के संयोग की प्रमुखता नहीं दी जा सकती। इसमें तो इन्द्रिय और उसका विषय ही प्रमुख है।

तैश्चापदेशौ ज्ञान विशेषाणाम् ।२७।

सूत्रार्थ—च=तथा, ज्ञान विशेषाणाम्=ज्ञान विशेष का, तैः=इन इन्द्रिय और विषय से, अपदेशः=व्यवहार होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों और इन विषयों से ही विशेष ज्ञान का व्यवहार होता है। जैसे नासिका के द्वारा सूँघना, जिह्वा से रसास्वादन करना, नेत्र से देखना इत्यादि गंध-ज्ञान, रस-ज्ञान, रूप-ज्ञान आदि कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रिय और विषय संयोग की प्रमुखता ही सिद्ध होती है। इसीलिए आत्मा और मन का संयोग न कहकर इन्द्रिय और विषय का संयोग ज्ञान उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इसमें पूर्व पक्ष यह है—

व्याहतत्वादहेतुः ।२८।

सूत्रार्थ—व्याहतत्वात्=व्याघात दोष होने से, अहेतुः=यह हेतु निरर्थक है।

व्याख्या - इन्द्रिय और विषय का संयोग मुख्य और आत्मा तथा मन का संयोग गौण कहा जाना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर एक समय में दो प्रकार के ज्ञान का उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष धर्म नष्ट हो जायगा। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मन में एक समय में एक ही ज्ञान हो पाता है, दो नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और मन का संयोग ही सब ज्ञानों का कारण है, इन्द्रिय और विषय का संयोग इसका कारण नहीं हो सकता। अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नार्थविशेषप्राबल्यात् ।२९।

सूत्रार्थ—अथ-विशेष-प्राल्बयात्=विषय विशेष को प्रबलता होने से, न=वह दोष नहीं बनता।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है इस सिद्धान्त में व्याघात नहीं हो सकता। क्योंकि, प्रत्यक्ष देखते हैं कि घोर निद्रा में सोया हुआ मनुष्य भी ऊँची आवाज अथवा किसी प्रकार के शब्द से जाग उठता है, इससे कहते हैं कि यह इन्द्रिय और विषय के संयोग से हुआ। परन्तु यह धारणा व्यर्थ है। मन के बिना ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। इसमें इन्द्रिय ने मन को जगा कर ज्ञान की शक्ति दी, और मन से वह ज्ञान आत्मा के पास पहुंचाया, यदि आत्मा का और मन का संयोग न हुआ होता कैसा भी घोर शब्द क्यों न क्रिया जाता, निद्रा भंग नही हो सकती थी। कार्य के सशक्त होने से इन्द्रिय प्रमुख होती है और कार्य के बलहीन होने में मन प्रमुख होता है। दोनों में पृथक कारण होने से उसमें व्याघात होना नहीं मान सकते। आत्मा और मन के संयोग बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु, विशेष अर्थ होने से इन्द्रिय द्वारा मन को कार्य में लगाया गया। इसलिए इन्द्रिय को प्रमुख मान कर इन्द्रिय और विषय के संयोग की बात कही गयी। अब प्रत्यक्ष की परीक्षा करेंगे।

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेश ग्रहणादुपलब्धेः ।३०।

सूत्रार्थ—एक देश ग्रहणात्=एक देश का ग्रहण करने से, उपलब्धेः=उपलब्धि होने पर, प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष का, अनुमानम्=अनुमान सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या - इन्द्रिय और विषय के संयोग से वृक्ष आदि का ज्ञान अनुमान ही है। क्योंकि एक समय में नेत्र से वृक्ष का एक भाग ही दिखाई देगा, उसका पीछे का भाग दिखाई नहीं देगा। वैसे ज्ञान पूरे वृक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का हुआ है, परन्तु पूरा विषय प्रत्यक्ष न होने से उसका अनुमान ही करना पड़ेगा कि पीछे का भाग भी ऐसा ही होगा। जैसे कि कहीं से धुँआ निकलता देखकर ही अग्नि का अनुमान हो जाता है। इसलिए, प्रत्यक्ष भी अनुमान ही कहा जायगा। इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं।

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ।३१।

सूत्रार्थ– प्रत्यक्षेण=प्रत्यक्ष से, अपि=भी, यावत्-तावत् =जितने का ज्ञान होगा, उतने के प्रत्यक्ष होने से उस, न= अनुमान नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या—वृक्ष का जितना भाग प्रत्यक्ष देखा, उतने के ज्ञान से पूरे वृक्ष का ज्ञान हो जायगा। यदि एक का प्रत्यक्ष होना मान लिया तो प्रत्यक्ष का न होना, नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से दो वस्तुओं की व्याप्ति ज्ञान होने पर ही उनमें से एक को देखकर दूसरे का अनुमान हो सकता है। जैसे धुँए और अग्नि को पहिले कभी देख चुके हैं तभी धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान होगा, अन्यथा नहीं होगा। इससे सिद्ध हुआ कि अनुमान भी प्रत्यक्ष के द्वारा ही सिद्ध होता है और एक देश का प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेने से, प्रत्यक्ष की सत्ता की अमान्यता वाले सिद्धान्त का स्वयं खण्डन हो जाता है। इसमें एक और दोष भी है, जिसे अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ।३२।

सूत्रार्थ—च=और, अवयवि सद्भावात्=अवयवी के प्रत्यक्ष होने से, एकदेशोपलब्धिः=एक देश की प्राप्ति, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—अवयवी स्वतन्त्र द्रव्य हैं, इसलिये उसके द्वारा एक देश की प्राप्ति नहीं होती। वल्कि एक देश तथा उसका साथी एकदेशीय दोनों की ही प्राप्ति होती हैं। इसमें अवयव संयोग-कारण और अवयवी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सयोग कार्य माना जाता है। इसी ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है—

अब, अवयवी को प्रमाणित करने में पूर्वपक्ष कहते हैं—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ।३३।

सूत्रार्थ—साध्यत्वात्=साध्यत्व से, अवयविनि=अवयवी में, संदेह=संदेह उपस्थित होता है।

व्याख्या—पूर्वपक्ष का कहना है कि अवयवी की विद्यमानता और उसका प्रत्यक्ष होना ठीक नहीं मान सकते, क्योंकि अवयवी में सन्देह है। अवयवी अवयवों से पृथक वस्तु है, यह सिद्ध होने पर ही अवयवी का प्रत्यक्ष होना मान सकते हैं। अगले सूत्र में इस पक्ष का समाधान करते हैं।

सर्वाग्रहणमवयव्य सिद्धेः ।३४।

सूत्रार्थ—अवयव्यसिद्धेः=अवयवी के सिद्ध न होने पर, सर्वाग्रहणम्=सबका ग्रहण होना नहीं बनता।

व्याख्या—यदि अवयवी को अवयव से पृथक द्रव्य न मानें तो केवल प्रमाण से ही प्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु पदार्थ ज्ञान होता है क्योंकि वर्तमान में ही महत्त्व विशिष्ट पदार्थ दिखाई देते हैं। यदि अवयवी को न मानेंगे तो प्रत्यक्ष का अभाव होने से अनुमान आदि प्रमाण भी अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होंगे। इससे सिद्ध होता कि अवयवों से अवयवी भिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ है। अब अवयवी को सिद्ध करने के लिए युक्ति उपस्थित करते हैं।

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ।३५।

सूत्रार्थ—च=तथा, धारणाकर्षणोपपत्ते=धारण और आकर्षण की उपपत्ति से, भी अवयवी का भिन्न एवं स्वतन्त्र पदार्थ होना सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—एक अवयव के धारण करने से सब अवयवों का धारण करना हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक अवयव के ज्ञान से ही सब अवयवों का ज्ञान हो जाता है। तथा अवयवों के प्रत्यक्ष होने से एक अवयव से ही उसके साथी सब अवयव जान लिये जाते हैं। अवयवी के अवयव दो प्रकार के हैं–(१) प्रत्यक्ष होने वाले, (२) प्रत्यक्ष न होने वाले। परन्तु, एक अवयव को देखकर अवयवों के समूह रूप अवयवी का ज्ञान हो जाने से अवयवी सिद्ध हो जाता है।

सेनावनवद्‌ ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्‌ ।३६।

सूत्रार्थ—सेनावनवत्‌=सेना और वन के समान, ग्रहणम्‌=ग्रहण किये जाने से, चेत्‌=यदि, इति=ऐसा कहे तो, न=नहीं कह सकते, क्योंकि, अणूनाम्‌=परमाणुओं का ज्ञान, अतीन्द्रियत्वात्‌=इन्द्रियगम्य न होने से, ऐसा कहना निरर्थक है।

व्याख्या—यदि कहें कि जैसे दूर से सेना के अवयव और वन के अवयव एक से ही दिखाई देते हैं, उनमें भेद होने का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार इकट्ठे हुए परमाणुओं के भेद का ज्ञान न होने से, वे एक ही दिखाई देते हैं। तो यह कहना ठीक नही है। क्योंकि सेना और वन के प्रत्यक्ष होने से वहाँ मनुष्य और वृक्ष प्रत्यक्ष हो जाते हैं, परन्तु जो परमाणु अतीन्द्रिय हैं, वे किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं? इसलिए सेना और वन का उदाहरण परमाणुओं में अति युक्तिसंङ्गत नहीं है। अवयवी भिन्न है और उसी का प्रत्यक्ष मानना उचित हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परीक्षा पूर्ण हुई। अब अनुमान प्रमाण की परीक्षा करेंगे।

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्‌ ।३७।

सूत्रार्थ—रोधोपघात सादृश्येभ्यः=रोध, उपघात और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सादृश्य के द्वारा,व्यभिचारात्=व्यभिचार होने से,अनुमानम्=अनुमान को, अप्रमाणम्=प्रमाण नहीं मान सकते ।

व्याख्या—पूर्वपक्ष है कि अनुमान को सिद्ध करने में जो प्रमाण दिये हैं, वे रोध, उपघात और सादृश्य से व्यभिचार होने के कारण मान्य नहीं हैं । प्रथम यह है कि नदी में बाढ़ आने से ऊपर कहीं वर्षा हुई होगी, यह अनुमान मानने योग्य नहीं है क्योंकि ऊपर कहीं बन्द लगाकर बहते पानी को रोक दें और फिर उसे एक साथ छोड़ें तो भी बाढ़ आ जायगी, इससे वर्षा होने का अनुमान मिथ्या हो गया, इसलिए इस अनुमान में व्यभिचार दोष है, दूसरे चींटियों के अण्डों के निकलने और मोरों के शब्द सुनने से वर्षा होगी, ऐसा अनुमान ठीक नहीं, क्योंकि किसी वस्तु के जोर से गिरने आदि के कारण भी चीटियाँ अण्डों को लेकर भाग निकलती हैं और मोर का शब्द सही है या नहीं, इससे भी सन्देह हो सकता है, क्योंकि मनुष्य भी मोर का सा शब्द कर सकता है । इसलिए जिसमें सन्देह हो वह प्रमाण नही हो सकता । अब इसका समान अगले सूत्र में करते हैं ।

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तर भावात् ।३८।

सूत्रार्थ—एकदेशत्रास सादृश्येभ्यः=एक देश, त्रास और, सादृश्य के द्वारा, अर्थान्तरभावात्=अर्थान्तर होने से न=व्यभिचार दोष का होना सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—एक देश, त्रास और सादृश्य से अर्थान्तर होता है, इसलिए दोष नहीं बनता । जैसे एक देश का दृष्टान्त—नदी में बाढ़ इस प्रकार हमेशा नहीं आ सकती और चींटियों को अण्डे लेकर भागना भी जो भय के कारण होता है, उसे, स्वाभाविक नहीं कह सकते । इस प्रकार जो कारण ऊपर दिये गये, वे कृत्रिम होने से व्यभिचार दोष को सिद्ध करने वाले नहीं है । क्योंकि अनुमान के जो कारण कहे हैं, वे वास्तविक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कृत्रिम नहीं। इसलिए कृत्रिम और वास्तविक के हेतुओं में अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण में कोई दोष नहीं है।

वर्तमानाभावःपततः पतितपतितव्यकालोपपत्ते ।३९।

सूत्रार्थ—पततः=गिरने वाले पदार्थों में, पतित पतितव्य=पतित अर्थात् गिरा हुआ और पतितव्य अर्थात् गिरने वाला कहा जाने से, वर्त्तमान-अभावः=वर्त्तमान काल का अभाव है।

व्याख्या—वृक्ष की शाखा से गिरने वाले फल को पतित कहने का तात्पर्य है—गिरा हुआ अर्थात् भूत काल वाचक और पतितत्व कहने का मतलव है गिरने योग्य अर्थात् भविष्य काल का सूचक। इन दोनों शब्दों में वर्तमान काल का आभास नहीं मिलता। इससे यही मानना होगा कि वर्तमान काल का अस्तित्व ही नहीं हैं। अब इसका समाधान करते है।

तयोरप्यभावो वर्त्तमानभावे तदपेक्षत्वात् ।४०।

सूत्रार्थ—वर्त्तमानाभावे=वर्तमान का अभाव होने पर तयोः=उन भूत काल और भविष्य काल का, अपि=भी, अभावः=अभाव हो जायगा, क्योंकि, तदपेक्षत्वात्=वे दोनों वर्तमान की अपेक्षा से होने के कारण यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि वर्तमान काल का अस्तित्व स्वीकार न करेंगे तो भूत भविष्यत् काल भी नहीं माने जा सकेंगे। क्योंकि, वर्तमान काल मे ही उन दोनों की तुलना होती है। जैसे वृक्ष से फल गिरता हैं तो उसे गिरने में कुछ समय लगता है, इसलिए जो समय वहाँ से पतित होने में लगता है, उसी को वर्तमान काल मानना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान का अभाव नहीं कह सकते। अगले सूत्र में वर्तमान की सिद्धि में अन्य हेतु दिया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ।४१।

सूत्रार्थ--अतीत अनागतयोः=भूत और भविष्यत् काल की, इतरेतरापेक्षा = पारस्परिक अपेक्षा के द्वारा, सिद्धिः=सिद्धि न=नहीं हो सकती।

व्याख्या--जैसे कि भूत काल किसे कहते है, इसका उत्तर यही देना होगा कि जो भविष्यत् से विपरीत है, फिर प्रश्न होगा कि भविष्यत् काल क्या है ? तो उत्तर होगा कि जो भूतकाल से भिन्न है। इस प्रकार, एक की सिद्धि से दूसरे की अपेक्षा हुई, इसलिए यह अन्योन्याश्रय दोष है और दोनों के प्रमाणित न होने से परस्पर में वे अपने में से किसी एक को भी सिद्ध नहीं कर सकते। अब, वर्तमान को सिद्ध करने में एक हेतु और देते हैं।

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्ते ।४२।

सूत्रार्थ—वर्त्तमान-अभावे=वर्तमान का अभाव मानने से प्रत्यक्षानुपपत्तेः=प्रत्यक्ष की सिद्धि न होने से, सर्वाग्रहणम्= सब का ग्रहण नहीं हो सकता।

व्याख्या—वर्तमान का अभाव मान लें तो प्रत्यक्ष की असिद्धि हो जायगी अर्थात् जो सामने दिखाई दे रहा है, उसे भी अस्वीकार करना पड़ेगा और प्रत्यक्ष को अस्वीकार करने से सबको अस्वीकार करना होगा अर्थात् किसी का भी ग्रहण न हो सकेगा। जो वस्तु विद्यमान नहीं, उसे प्रत्यक्ष नहीं मान सकते, जो वस्तु सामने हैं वही प्रत्यक्ष है। यदि उसे भी न मानें तो अनुमान और शब्द प्रमाण को भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष तो अनुमान और शब्द प्रमाण दोनों का ही सहायक हैं। यदि प्रमाणों की सिद्धि न हुई तो किसी प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व नहीं रह सकता। वर्तमान काल का ग्रहण दो प्रकार से हो सकता है—एक तो वस्तु के अस्तित्व से और दूसरे क्रिया के होने से। वस्तु का अस्तित्व—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह द्रव्य हैं, यह घट है, यह पट है इत्यादि और क्रिया जैसे काटता है, जल भरता है, खाता है इत्यादि। यह दोनों बातें प्रत्यक्ष होती हुइ देखी जाती हैं, इसी से वर्तमान काल की सिद्धि होती है। अगले सूत्र में इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं।

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ।४३।

सूत्रार्थ—कृतता=क्रिया की पूर्णता, और कर्त्तव्यतोपपत्तेः=कर्त्तव्यता की उत्पत्ति से, उभयथा=दोनों ही प्रकार से, ग्रहणम्=वर्तमान की सत्ता स्वीकृत होती है।

व्याख्या—कृतता और कर्त्तव्यता की प्राप्ति से भी वर्तमान का ग्रहण होता है। जैसे क्रिया का आरम्भ नहीं हुआ, परन्तु आगे होगा—उठावेंगे, पकावेंगे, बनावेंगे आदि में भविष्यत् काल हुआ और क्रिया का पूर्ण होना जैसे-घट बन गया, भोजन कर लिया आदि में बीते हुए काल का ज्ञान है परन्तु इन दोनों की सिद्धि में भी वर्तमान की सिद्धि निहित हैं। जैसे—घड़ा बन कर सामने आ गया, इसमें अतीत काल बदल कर वर्तमान होगया और घड़ा बनने की क्रिया आरम्भ होगई परन्तु अभी घड़ा पूरा नहीं बना तो यह क्रिया, जो हो रही है, वर्त्तमान में है। इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल में भी वर्त्तमान काल की सत्ता सिद्ध हो रही है। अब पूर्वपक्ष के मत से उपमान की परीक्षा कहते हैं।

अत्यन्तप्रायैकदेश साधर्म्यादुपमानासिद्धिः ।४४।

सूत्रार्थ—अत्यन्त प्रायैकदेश साधर्म्यात्=अत्यन्त, प्रायिक और एक देश के समान धर्म होने से, उपमान-असिद्धिः=उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या—अत्यन्त साहश्य से उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता। देख कर यह अनुमान हो जाता है कि नीलगाय भी ऐसी ही होती होगी। इस प्रकार उपमान और अनुमान में कोई भेद नहीं जान पड़ता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह तो कह सकते हैं कि गाय के समान नीलगाय होती है। सामान्य समानता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं होता, जैसे कहें कि जैसा बैल वैसा भैंसा यह भी उपमान की सिद्धि में अनुपयुक्त है। किसी एक धर्म के मिलने से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सभी वस्तुओं में किसी दूसरी वस्तु के धर्म मिल सकते हैं। इसलिए उपमान को प्रमाण नहीं मान सकते। अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

प्रसिद्ध साधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषा-नुपपत्तिः ।४५।

सूत्रार्थ—प्रसिद्ध साधर्म्यात्=प्रसिद्ध समान धर्म से उपमान सिद्धेः=उपमान के सिद्ध होने पर, यथोक्तदोषानुपपत्तिः=दोषों की उत्पत्ति नहीं बनती।

व्याख्या—प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा उपमान सिद्ध हो जाय, तब उक्त दोष की प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि साध्य की पूर्णता अथवा न्यूनता का आश्रय लेकर उपमान-प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि प्रसिद्ध समानता के आधार पर अनुमान प्रवृत्त होता है।

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्ष सिद्धेः ।४६।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष से, अप्रत्यक्ष=अप्रत्यक्ष की, सिद्धेः =सिद्धि होने से उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत होगा।

व्याख्या—पूर्व पक्ष का कहना है कि सादृश्य के प्रत्यक्ष होने से परोक्ष पदार्थ सिद्ध होगा और तब उपमान और अनुमान में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जैसे प्रत्यक्ष धुंए को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान हो जाता है अर्थात् अग्नि है तो धुंआ अवश्य होगा। इसी प्रकार गाय को देख कर यह अनुमान हो जाता है कि नीलगाय भी ऐसी ही होती होगी। इस प्रकार उपमान और अनुमान में कोई भेद नहीं जान पड़ता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और ऐसी स्थिति में उपमान का मानना ठीक नहीं है। अब इस पक्ष का उत्तर देते हैं–

नाप्रत्यक्षे गवयेप्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ।४७।

सूत्रार्थ—गवये=गवय के, अप्रत्यक्षे=अप्रत्यक्ष होने पर, उपमानस्य=उपमान का, प्रमाणार्थम्=प्रमाण का अर्थ, न=नहीं, पश्याम:=दिखाई नहीं देता।

व्याख्या—गौ की समानता होने से गौ जाति के जितने भी पशु हैं, उनके नाम से सम्बन्धित ज्ञान उपमान का फल कहा गया। जब बालक को गौ दिखाकर यह बताया जाता है कि यह गौ है तब उसे उसके गौ होने का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ परन्तु अनुमान तो अप्रत्यक्ष वस्तु का होता है, इस अनुमान और उपमान का भेद स्पष्ट ज्ञात होता है।

तथेत्युपसंहारादुपमान सिद्धेर्नाविशेष: ।४८।

सूत्रार्थ—तथा इति=यह गौ के समान ही है, इस प्रकार, उपसंहारात्=उपसंहार वचन से, उपमान सिद्धे=उपमान को सिद्धि होने से, अविशेष:=दोनों में कोई भेद नहीं, न=ऐसा नहीं है।

व्याख्या जैसी गौ है, वैसी ही गौ-जाति है, इस विशेष ज्ञान के द्वारा उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है, ऐसी मान्यता होती है। अनुमान में ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसमें व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है अर्थात् लक्षण देखकर किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान करने से इसमें यह विशेषता हैं। इस प्रकार उपमान की परीक्षा पूर्ण हुई। अब शब्द की परीक्षा करेंगे।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ।४९।

सूत्रार्थ–अर्थस्य=अर्थ के, अनुमेयत्वात्=अनुमेय होने से,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दः=शब्द, अनुमानम्=अनुमान ही है, क्योंकि, अनुपलब्धेः= प्रत्यक्ष से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या--शब्द प्रमाण भी अनुमान के ही अन्तर्गत है। क्योंकि अनुमेय के सम्बन्ध ज्ञान से अनुमान होता है वैसे ही शब्द और उसके अर्थ-सम्बन्ध से जो ज्ञात होता है, उसे उपमेय कहते हैं, जैसे अग्नि का नियत चिन्ह धुंआ है और धुंए को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाता है, वैसे ही शब्द के द्वारा अग्नि का नाम सुनकर ही अग्नि का स्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार अनुमान भी शब्द के अन्तर्गत ही है, इन दोनों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ।५०।

सूत्रार्थ--अद्विप्रवृत्तित्वात्=भिन्न प्रवृत्ति न होने से, उपलब्धेः=उसकी प्राप्ति का कारण शब्द है।

व्याख्या--यदि शब्द अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत न होता तो उसकी प्रवृत्ति भी अनुमान से भिन्न प्रकार की ही होनी चाहिये थी। परन्तु, दोनों की प्रवृत्ति एक जैसी ही मिलती है, इसलिए भी शब्द अनुमान ही है। क्योंकि अनुमान के द्वारा जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही शब्द के द्वारा होता है। जैसे-कोई कहे 'कि आज वर्षा आयेगी, क्योंकि मोर नाच रहा है' तो मोर को नाचता देखकर वर्षा का अनुमान हुआ वैसे ही वर्षा की बात सुनकर ही, वर्षा का दृश्य नेत्रों के सामने घूम जाता है, परन्तु वर्षा प्रत्यक्ष नहीं होती। इसलिए शब्द को भी अनुमान के अन्तर्गत मानना ठीक है। इसके पक्ष में युक्ति देते हैं--

सम्बन्धाच्च ।५१।

सूत्रार्थ - च=और, सम्बन्धात्=शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध होने से भी ऐसी ही मान्यता ठीक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जैसा सम्बन्ध लिंग और लिंगी अनुमान में देखते है वैसा ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ में मिलता हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द और अनुमान में कोई भेद नहीं है। यह समाधान पूर्व पक्ष का हुआ। अब उत्तर पक्ष का मत देते हैं—

आप्तोपदेश सामर्थ्याच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययः।५२।

सूत्रार्थ—आप्तोपदेश सामर्थ्यात्=आप्त जन के उपदेश के सामर्थ्य से, शब्दार्थं=शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान, सम्प्रत्ययः=उसी के समान समझना चाहिए।

व्याख्या—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, मुमुक्षुओं अथवा परम साधकों को आप्तजन कहा जाता है। ऐसे पुरुषों का ज्ञान कभी मिथ्या नहीं होता, इसीलिए इनके उपदेश को प्रमाण मानते हैं। इसलिए उनके शब्द को अनुमान नहीं मान सकते, क्योंकि, इसमें किसी अनुमान अथवा विश्वास से काम नहीं लिया जाता। बल्कि, वह प्रमाण के अन्तर्गत है इसलिए शब्द को अनुमान प्रमाण नहीं कह सकते।

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः।५३।

सूत्रार्थ—प्रमाणतः=शब्दार्थ के अनुमान होने में कोई प्रमाण अनुपलब्धेः=उपलब्ध नहीं है।

व्याख्या—वादी के द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बताया जाना किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शब्द जिस इन्द्रिय से ग्रहण होता है, उससे अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कहें कि 'गिलास लाओ'। यह शब्द कान के द्वारा सुना गया परन्तु कान, गिलास ला नहीं सकता। यह कार्य तो हाथ करेगा। इससे भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। धुँए को देख कर अग्नि का अनुमान प्रमाणित है, क्योंकि जहां से धुँआ निकलता देखते हैं, वहां जाकर अग्नि को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु शब्द को सुनकर उसके अर्थ की प्रत्यक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपलब्धि नहीं हो सकती। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द को अनुमान प्रमाण मानना ठीक नहीं है।

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ।५४।

सूत्रार्थ—पूरण=भरना, प्रदाह=जलना, पाटन=छेदन, च=आदि से, सम्बन्ध-अभाव=सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि ऐसा मान लें कि शब्द के साथ ही उसका अर्थ भी रहता है तो मिठाई का नाम लेते ही मुख मीठा हो जाना चाहिए और अन्न शब्द कहते ही पेट भर जाना चाहिए। अग्नि शब्द का उच्चारण करते ही मुख जल जाना और छुरी का नाम लेते ही शरीर कट जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध हुआ कि शब्दार्थ का व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं बनता।

शब्दार्थ व्यवस्थानादप्रतिषेधः ।५५।

सूत्रार्थ—शब्दार्थ व्यवस्थानात्=शब्द और उसके अर्थ की व्यवस्था होने से, अप्रतिषेधः=व्याप्ति सम्बन्ध का निषेध कहना किसी प्रकार उचित नहीं है।

व्याख्या—पूर्व पक्ष का कहना है कि शब्द का अर्थ नियत है अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ है, वह प्रत्येक वस्तु के लिए निश्चित है। जैसे गाय शब्द का प्रयोग गाय के लिए घड़ा या वस्त्र का प्रयोग भी इसी प्रकार होगा। यदि शब्द में अर्थ नियत अवस्था न मानें तो घड़े का अर्थ वस्त्र और पट का अर्थ पानी भरने का घड़ा भी लगा सकेंगे। परन्तु यह होता हुआ नहीं देखा जाता, इसलिए उनका नियामक संयोग-सम्बन्ध नहीं मान सकते। इससे उनका व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है और यही मान्यता ठीक है। अब पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थं सम्प्रत्ययस्य ।५६।

सूत्रार्थ—शब्दार्थं सम्प्रत्ययस्य=शब्द के अर्थ का अनुभव सामायिकत्वात्=समय के अनुसार होने से, उपर्युक्त मान्यता न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। क्योंकि, वह देश, काल आदि के अनुसार कल्पना किया हुआ है। विभिन्न भाषाओं में एक वस्तु को प्रकट करने वाले विभिन्न शब्द हैं, कहीं-कहीं तो जिस शब्द का अर्थ जो माना जाता है, दूसरी भाषा में उसी शब्द का विपरीत अर्थ निकलता है। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ कल्पित है और जो व्यक्ति किसी शब्द को नहीं जानते, उनके सामने बार-बार उच्चारण किया जाने पर भी वह उसका अर्थ नहीं समझ, सकते। इसलिए शब्दार्थ की बात कहना ठीक नहीं है। उस पक्ष में अन्य हेतु भी अगले सूत्र में देते हैं—

जाति विशेषे चानियमात् ।५७।

सूत्रार्थ—च=और, जाति विशेषे=जाति की विशिष्टता होने में, अनियमात्=कोई नियम न होने से भी शब्द के स्वाभाविक सम्बन्ध की मान्यता नहीं बनती।

व्याख्या—जाति विशेष में भी इसकी कोई नियत व्यवस्था नहीं है कि अमुक शब्द का अर्थ अमुक जाति का सूचक ही होगा। जैसे सूर्य का प्रकाश सब जातियों और सभी वस्तुओं को एक सा ही उपलब्ध होता है, उसमें देश या काल का कोई भेद बाधक नहीं होता और जाति विशेष के उल्लेख से शब्द एक ही जाति के व्यक्तियों में विभिन्नता प्रकट करने के कारण भी उसमें स्वाभाविक सम्बन्ध की मान्यता नहीं ठहरती। अब ब्राह्मण वाक्यों के सम्बन्ध में कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तदोषेभ्यः ।५८।

सूत्रार्थ अनृत=मिथ्या, व्याघात=परस्पर विरोध, और, पुनरुक्त=बारम्बार एक बात को कहना, दोषेभ्यः=इन दोषों के होने से, तदप्रामाण्यम्=ब्राह्मण वाक्य प्रमाण रूप में नहीं माने जा सकते।

व्याख्या - ब्राह्मण वाक्य अथवा आप्त-वचन को प्रामाणिक इसलिए नहीं मान सकते कि उनमें, मिथ्यात्व परस्पर विरोध और पुनरुक्ति दोष पाये जाते हैं। इसमें मिथ्यात्व यह कि "पुत्र की कामना वाला मनुष्य पुत्रेष्टि यज्ञ करें" ऐसा शास्त्र वचन है, परन्तु, अनेक पुरुषों के पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति भी होगी या नहीं यह बात सदिग्ध ही है। परस्पर विरोधी बातें यह है कि किसी शास्त्र में सूर्योदय से पहले हवन करने का उपदेश है और किसी में सूर्योदय के बाद में करने का आदेश है। अब कौन-सा आदेश ठीक है, कौन-सा नहीं ? इसका निर्णय कैसे हो ? पुनरुक्ति दोष यह है कि एक ही बात का बार-बार वर्णन तो शास्त्र में भरा पड़ा है। इस प्रकार आप्त-वचनों में दोष होने से उनको प्रामाणिक मानना कदापि उचित नहीं है। अब इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

न कर्मकर्तृ साधनवैगुण्यात् ।५९।

सूत्रार्थ-कर्मकर्तृ साधन=कर्म, कर्त्ता और साधन के, वैगुण्यात् यथा योग्य न होने से, न=दोष नहीं है।

व्याख्या—कर्म का फल केवल आदेश पर निर्भर नहीं है। जैसे कोई कहे कि अमुक कार्य करो। जब तक उस कार्य को किया न जाय तब तक उसका फल नहीं हो सकता। भोजन बनेगा तो खाया जायगा, न बनेगा तो केवल कह देने से ही क्या खाया जा सकता है ? कर्म, कर्त्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और साधन तीनों के यथायोग्य होने पर ही कर्म का फल मिलेगा। इसमें कर्म—रसोई बनने का कार्य, कर्त्ता—बनाने वाला और साधन—रसोई के लिए सामग्री इन तीनों का होना आवश्यक है। यदि एक का भी अभाव होगा तो फल की सिद्धि नहीं होगी। त्रिगुण का एक प्रकार और भी है - कोई पुरुष बीमार है, चिकित्सक ने उसे विपरीत दवा दे दी तो उसका प्रभाव भी विपरीत पड़ा। परन्तु इस स्थिति में भी उस दवा या उसके प्रयोग को निष्फल नहीं कह सकते। यही बात पुत्रेष्टि यज्ञ के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। यज्ञकर्त्ता के किसी दोष से यज्ञ का फल न हो तो वेद के उपदेश को मिथ्या कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा बहुतों को पुत्र की प्राप्ति देखी जाती हैं। इसी प्रकार, वर्षा के लिए यज्ञ किया जाता है तो वर्षा भी होती है—यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए आप्त-वचनों में दोष होना नहीं मान सकते। अब व्याघात दोष का भी समाधान करते हैं।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ।६०।

सूत्रार्थ—अभ्युपेत्य=हवन के समय में, कालभेदे=काल भेद से, दोष वचनात्=वचन में दोष हुआ है।

व्याख्या—हवन के समय में जो भेद है, वह काल भेद से ही हुआ है। अग्निहोत्र के दो समय होते हैं। प्रातःकाल का हवन सूर्योदय से पहिले और सायंकाल का सूर्यास्त से पहिले किया जाना चाहिए। ऐसा उपदेश कहीं नहीं मिलता कि प्रातःकाल का हवन सूर्योदय के बाद किया जाये। यदि एक काल के लिए ही दो प्रकार के आदेश होते तो उसमें व्याघात दोष आ सकता था। परन्तु अलग-अलग संयमों में होने वाले अग्निहोत्रों का अलग-अलग काल-निर्देश करना व्याघात दोष का कारण नहीं है। अब, अगले सूत्र में पुनरुक्ति दोष का समाधान भी करेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादोपपत्तेश्च ।६१।

सूत्रार्थ—च=और, अनुवादोपत्तेः=अनुवाद की उपपत्ति से पुनरुक्ति दोष नहीं बनता ।

व्याख्या—यदि किसी विशेष प्रयोजन से एक बात को दो बार कहें तो पुनरुक्ति दोष नहीं बनता । उसे अनुवाद कहा जाता है । क्योंकि अनुरोध करने में निश्चित उद्देश्य होता है, इसलिए वह पुनरुक्ति दोष नहीं । वेदों में भी विभिन्न स्थलों पर एक बात को दो बार कहा गया है, परन्तु प्रयोजनीय होने से ऐसा किया गया है । हाँ, साधारण व्यक्ति उस प्रयोग को निरर्थक मानकर पुनरुक्ति का भ्रम कर बैठते हैं । परन्तु, वास्तविक रूप से वैसा नहीं है, उसके सार्थक होने से, उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं बनता । इसका अन्य हेतु अगले सूत्र में देते हैं—

वाक्य विभागस्य चार्थग्रहणात् ।६२।

सूत्रार्थ- च=और, वाक्यविभागस्य=वाक्य के विभाग का, अर्थग्रहणात्=अर्थ ग्रहण किये जाने से भी पुनरुक्ति दोष का होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—वाक्य के भेद दो कहे हैं—(१) विधायक और (२) अनुवादक । इससे भी अनुवाद का सार्थक होना सिद्ध होता है और पुनरुक्ति दोष का होना सिद्ध नहीं होता । अगले सूत्र में ब्राह्मण वाक्य के भेद कहेंगे ।

विध्यर्थवादानुवादबचनविनियोगात् ।६२।

सूत्रार्थ=विधि=विधिवाक्य, अर्थवाद=अर्थवाद वाक्य और अनुवादवचन=अनुवाद वाक्य, विनियोगात्=यह तीन भेद ब्राह्मण वाक्य के कहे गये हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—ब्राह्मण ग्रन्थों में तीन प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं—विधि वाक्य, अर्थ वाक्य और अनुवाद वाक्य। अगले सूत्रों में इन वाक्यों के लक्षण कहे गये हैं—

विधिर्विधायक ।६४।

सूत्रार्थ—विधायकः=विधायक वाक्य को, विधिः=विधि वाक्य कहा गया है।

व्याख्या—जिस वाक्य में किसी कर्म के करने का उपदेश निहित हो, वह विधि वाक्य। जैसे कहें कि यज्ञ करो, रसोई बनाओ, दूध गर्म करो इत्यादि वाक्य, विधि वाक्य कहे जाते हैं। अब अगले सूत्र से अर्थवाद-वाक्य का लक्षण कहेंगे।

स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ।६५।

सूत्रार्थ—स्तुतिः=प्रशंसा, निन्दा=बुराई, परकृतिः=परकृति, और, पुराकल्प=पुराकल्प, इति=वह, अर्थवादः=अर्थवाद वाक्य के लक्षण समझने चाहिए।

व्याख्या—स्तुति, निन्दा, परिकृति और पुराकल्प यह चार लक्षण अर्थवादक के हैं। जिस वाक्य में किसी काय की अथवा वस्तु के गुणों की बड़ाई हो वह स्तुति है। यदि किसी व्यक्ति के कार्यों की प्रशंसा की जाय तो वह, उससे बहुत प्रसन्न होता है और किसी के कार्य के दोष को कहना उसकी निन्दा है। निन्दा वाले वाक्य से लोग अप्रसन्न होते हैं। कभी-कभी निन्दा का परिणाम अच्छा भी निकलता है और बहुत से व्यक्ति अपनी निन्दा होती देखकर, उन बुराइयों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार पर-दोष-दर्शन को निन्दा कहा जाता है। अब परकृति को समझाते हैं। दूसरों के अच्छे या बुरे कर्मों का उदाहरण देते हुए प्रशंसा या निन्दा करके शुभ कर्मों में किसी को प्रेरित करना परकृति है। जैसे महाभारत का उदाहरण दें कि युधिष्ठिर सत्यवादी थे इसलिए धर्मराज कहे जाते थे, परन्तु उन्होंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अश्वत्थामा मर गया" कहकर यह भ्रम फैला दिया कि जो अश्वत्थामा मरा वह वीर अश्वत्थामा था या अश्वत्थामा नामक हाथी था। इसलिए, उनको नरक में जाना पड़ा। इस वाक्य से यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि थोड़ा-सा झूँठ बोलना भी नरक प्राप्ति का साधन है और किसी व्यक्ति का दोष दूर करने के लिए यह उदाहरण दिया गया, इसलिये इसे परकृति कहते है। अब पुराकल्प बताते हैं—प्राचीन कालीन सत्पुरुषों ने जिस धर्म का आचरण किया हो, उस धर्म का आचरण करना ही पुराकल्प है। जैसे कहें कि गांधीजी ने अमुक-अमुक कार्य किये, उनके द्वारा देश को स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। हमें भी उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार मार्ग का अनुसरण करना पुराकल्प कहा जायगा। अगले सूत्र में अनुवाद का लक्षण करेंगे।

विधिविहितस्यानुवचनमनुवाद ।६६।

सूत्रार्थ—विधिविहितस्य=विधि-वाक्य के विधान का, अनुवचन=पुनः कहा जाना, अनुवाद=अनुवाद है।

व्याख्या—जो बात एक बार कही गई, उसका दुबारा कहा जाना अनुवाद है। अथवा जिसका विधि से विधान किया गया उसके फिर कहने को अनुवाद कहते हैं। यह अनुवाद भी दो प्रकार का होता है—शब्दानुवाद और अर्थानुवाद, विधि का अनुवाद शब्दानुवाद कहा जाता है और विहित के अनुवाद को अर्थानुवाद कहते हैं। वेद में तीन प्रकार के वाक्य मिलते हैं, उसी के अनुसार लोक व्यवहार में भी तीन प्रकार के वाक्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे, कोई स्वामी अपने रसोइये को आदेश दे कि 'रसोई बनाओ' इसे विधि वाक्य कहेंगे। यदि कोई उपदेश दे 'भोजन के पचने से स्वास्थ्य सदा ठीक रहता है, इस वाक्य को अर्थवाद कहेंगे। और स्वामी अपने नौकर को आदेश दे कि "जल लाओ, शीघ्र जल लाओ" तो इस वाक्य को अनुवाद कहेंगे। इससे जल लाने की शीघ्रता का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकेत होने से वाक्य का दो बार कहा जाना पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता। शीघ्रता के प्रयोजन से ही यह वाक्य दो बार कहा गया। पुनरुक्ति दोष वह है जबकि बिना प्रयोजन के ही एक वाक्य का बार-बार प्रयोग किया जाय। अब अनुवादी के पुनरुक्ति होने के पक्षमें कहते हैं।

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ।६७।

सूत्रार्थ—अनुवादपुनरुक्तयोः=अनुवाद और पुनरुक्ति का, विशेषः=भेद, न=नहीं माना जाता, क्योंकि, शब्दाभ्यासोपपत्तेः=अनुवाद और पुनरुक्ति दोनों में शब्द और अभ्यास पाया जाता है।

व्याख्या—अनुवाद और पुनरुक्ति में कोई भेद नहीं माना जाता क्योंकि, इन दोनों में शब्द के अभ्यास की प्राप्ति होती है अर्थात् पुनरुक्ति और अनुवाद एक ही है. क्योंकि दोनों में ही शब्दार्थ की आवृत्ति में समानता है। अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करेंगे।

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ।६८।

सूत्रार्थ—शीघ्रतर गमनोपदेशवत्=अधिक शीघ्र जाने के आदेश के समान, अभ्यासात्=अभ्यास के होने से, अविशेषः=अनुवाद और पुनरुक्त में भेद न मानना, न=उचित नहीं।

व्याख्या—पुनरुक्त और अनुवाद में कोई भेद नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ वाले अभ्यास को अनुवाद और बिना अर्थ के अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं जैसे, किसी से कहा जाय "जाओ-जाओ" अर्थात् शीघ्र जाओ देर न करो, इस प्रकार कहा जाना अभिप्राय जन्य है। इससे शीघ्र जाने का आदेश प्रकट होता है। परन्तु निरर्थक यह दो बार कहना कि "वह जाता है--वह जाता है।" पुनरुक्त कहा जायगा। इसका और भी हेतु देते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।६९।

सूत्रार्थ-- मंत्रायुर्वेद प्रामाण्यवत्=मंत्र और आयुर्वेद के प्रमाण के समान,आप्तप्रामण्यात्=आप्तजनो के वाक्यों के प्रमाणित होने से, तत्=उस वेद की, प्रामाण्यम्=प्रामाणिकता है।

व्याख्या—जैसे, मन्त्र और आयुर्वेद प्रामाणिक हैं, वैसे ही आप्त पुरुषों के वाक्य प्रामाणिक हैं और इसी से वेद आदि आर्ष ग्रन्थों का प्रामाणिक होना भी सिद्ध होता है। मन्त्रों के विधि पूर्वक जाप से उनका फल भी देखने में आता है और आयुर्वेद की जो दवा जिस रोग की निवृत्ति के लिए नियत है, वह दवा उस रोग में लाभ करती प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस प्रकार आप्तजनों के वाक्य भी प्रामाणिक होते हैं। वेद आदि वाक्यों की प्रामाणिकता में भी कोई शङ्का नहीं हो सकती।

॥ द्वितीयोऽध्यायः—प्रथमान्हिक समाप्तः ॥

द्वितीयोऽध्यायः--द्वितीयाह्निकम्

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभाव प्रामाण्यात् ।१।

सूत्रार्थ—ऐतिह्यार्थापत्ति=ऐतिह्य, अर्थापति=सम्भवा भाव सम्भव और अभाव, प्रामाण्यात्=प्रमाण होने से, चतुष्टम्=प्रमाणों के चार भेद ही मानना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रकार के ही प्रमाण नहीं हैं, बल्कि ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव यह चार भेद और भी हैं। इस प्रकार प्रमाण के आठ भेद माने गये हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐतिह्य का अर्थ है—इतिहास प्रसिद्ध पुरुष । जैसे भगवान श्री राम, कृष्ण अथवा भीष्म, युधिष्ठिर आदि । एक अर्थ के कथन से दूसरे अर्थ की प्राप्ति हो जाय, जैसे कहा जाय कि 'अमुक व्यक्ति मोटा होने से दिन में एक बार ही भोजन करता है ।' इससे यह अर्थ सिद्ध हो गया कि वह व्यक्ति रात्रि में भोजन नहीं करता इसे अर्थापत्ति कहते हैं । मनमें पंसेरी अर्थात् आठ पंसेरी कहने से मन का ज्ञान होता है, पंसेरी अथवा सेरों के विना मन का ज्ञान नहीं हो सकता । इस प्रकार पसेरी या सेर का होना सम्भव प्रमाण है । अभाव प्रमाण उसे कहते हैं, जहाँ कारण नहीं तो कार्य हो ही नहीं सकता । यह अभाव प्रमाण है, अब इसका निराकरण करते हैं ।

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भ-वाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।२।

सूत्रार्थ—शब्दे=शब्द में, ऐतिह्यानर्थान्तर भावात्= ऐतिह्य का अन्तर्भाव, च=एवं अनुमाने=अनुमान में अर्थपत्ति सम्भवानर्णान्तरभावात्=अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अन्त-र्भाव होने से, अप्रतिषेध=प्रमाण के विभागों का निषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—प्रमाण चार ही हैं, क्योंकि ऐतिह्य शब्द प्रमाण के अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव तीनों ही अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं । ऐतिह्य आप्तजनों के वाक्य के समान ही प्रमाण हैं । क्योंकि जो प्रत्यक्ष हैं वह प्रमाण और अप्रत्यक्ष है उसे अनुमान कहते हैं । जब कोई एक व्यक्ति एक वार दिन में भोजन करता है, तो यह अनुमान सहज ही हो जाना चाहिए कि वह रात्रि में भोजन नहीं करता । अब शब्द प्रमाण में ऐतिह्य को क्यों माना जाय ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि इतिहास में जो लिखा है, वह प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा वर्णन की गई घटनाएँ होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु आप्त पुरुषों द्वारा लिखे गये इतिहास को ही प्रामाणिक मान सकते है। इसलिए आप्त पुरुषों के वाक्य और इतिहास दोनों को समान समझना चाहिए। अब अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव को अनुमान के अन्तर्गत क्यों माना जाय, इसका समाधान करते हैं कि अनुमान वह है जो ऊपर, दिन में भोजन करने वाले के प्रति रात्रि में भोजन न करने की, स्वतः सिद्धि वाली बात बताई गई। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, जिसमें एक वाक्य के अर्थ को जानने पर दूसरी वस्तु के अर्थ का ज्ञान स्वयं हो जाय। तो अर्थापत्ति और अनुमान के एक ही लक्षण हुए। देवदत्त दिन में एक बार ही भोजन करता है तो रात्रि में उसके द्वारा भोजन न किया जाना स्वयं सिद्ध होने से उसे अर्थापत्ति कहते हैं। एक वस्तु के ग्रहण से दूसरी वस्तु का अनुमान हो जाना 'सम्भव' अनुमान है। जैसे श्रद्धा है तो प्रीति आवश्यक होगी अथवा ज्ञान है जो मुक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार सम्भव' का अनुमान के अन्तर्गत होना स्पष्ट सिद्ध है। तीसरा अभाव अनुमान के अन्तर्गत इसलिए है कि उसके लक्षण भी अनुमान से मिलते हैं। जैसे लोभ का अभाव है तो निन्दा का भी अभाव होगा और मोह का अभाव है तो शोक का भी अभाव होगा। इनमें एक के अभाव को देखकर दूसरे को अभाव का स्वयं अनुमान हो जाने से यह भी अनुमान के अन्तर्गत ही है। इस प्रकार, सभी प्रमाण इन चार प्रमाणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए अधिक भेद मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती अब पूर्वपक्ष द्वारा अर्थापत्ति पर किये गये प्रतिषेध को कहेंगे।

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ।३।

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकत्वात् = व्यभिचार दोष होने से अर्थापत्तिः=अर्थापत्ति को, अप्रमाणम्=प्रमाण नहीं मान सकते।

व्याख्या—अर्थापत्ति को प्रमाण के अन्तर्गत मानना अनुचित है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष की आशङ्का है। जैसे कोई कहे कि बादल नहीं है तो वर्षा नहीं होगी इसके अर्थ से बादल होंगे तभी वर्षा हो सकती है, यह बात सिद्ध होती है। इसे अर्थापत्ति प्रमाण मानो तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी बादलों के होने पर भी वर्षा नहीं होती। इसलिए अर्थापत्ति को प्रमाण मानने में यह व्यभिचार दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। अब इसका समाधान करेंगे।

अनर्थापत्तावर्थापत्यभिमानात् ।४।

सूत्रार्थ—अनर्थापत्तौ=अनर्थापत्ति में, अर्थापत्यभिमानात् =अर्थापत्ति का अभिमान होने से, व्यभिचार दोष सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—अर्थापत्ति में व्यभिचार दोष बताना उचित नहीं है। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होगा ही। इससे इस अर्थ की स्वतः प्राप्ति होती है कि कारण के होने से ही कार्य हो सकता है। परन्तु कारण के होने और कार्य के न होने से कारण के अस्तित्व में कोई दोष नहीं आता तथा कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट हुआ कि बादल है और वर्षा नहीं हुई तो इसमें व्यभिचार दोष नहीं आता। जैसे पिता है तो पुत्र हो सकता है, पुत्र न हुआ तो भी पिता का अस्तित्व तो है ही। यदि बादल के बिना ही बरसात हो जाती तो व्यभिचार दोष आता, क्योंकि पुत्र की उत्पत्ति पिता के बिना नहीं हो सकती। इससे अर्थापत्ति का प्रमाण के अन्तर्गत माने जाने में कोई दोष नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि वादी द्वारा अर्थापत्ति को अनर्थापत्ति कहना निरर्थक है। इसके पक्ष में अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

प्रतिषेधाऽप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ।५।

सूत्रार्थ—अनैकान्तिकत्वात्=अनैकान्तिक होने से, च=भी, प्रतिषेध=निषेध, अप्रामाण्यम=प्रामाणिक नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या - अर्थापत्ति में व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि वादी का खण्डन ही व्यभिचार दोष से युक्त है। क्योंकि भ्रमवश जहाँ अनर्थापत्ति कहा गया है, वही यह दोष आ सकता है। 'व्यभिचार होने के कारण अर्थापत्ति प्रमाण के अन्तर्गत नहीं' यह वाक्य अर्थापत्ति का खण्डन करता है, उसके अस्तित्व का खण्डन नहीं करता। व्यभिचार दोष होगा, वहाँ अर्थापत्ति न होगी, परन्तु व्यभिचार दोष न होगा, तब तो अर्थापत्ति बनेगी ही। इस प्रकार जो खण्डन ही दोषपूर्ण है, वह किसी विषय का खण्डन कैसे कर सकता है ? अब, इसे और भी स्पष्ट करते है।

तत्प्रामाण्ये वानार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ।६।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तत्प्रामाण्ये=उस निषेध वाले वाक्य को प्रमाण मानें तो,अर्थापत्त्यप्रामाण्यम्=अर्थापत्ति को अप्रमाण मानना भी, न=सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—प्रतिषेध को प्रमाण मानें तो अर्थापत्ति के अप्रामाणिक मानने का प्रसग उपस्थित नहीं हो सकता। यदि कारण के अस्तित्व में कार्य के न होने को व्यभिचार मानकर उसका निषेध करें और उस निषेध को ही प्रमाण मानने लगें तो अर्थापत्ति को प्रमाण मानने में ही क्या दोष हैं ? इससे अर्थापत्ति की सिद्धि हुई। अब प्रभाव न होने का पूर्वपक्ष कहेंगे।

नाऽभाव प्रामाण्यं प्रमेयऽसिद्धेः ।७।

सूत्रार्थ - प्रमेयाऽसिद्धे=प्रमेय के सिद्ध न होने पर, अभाव प्रामाण्यम्=अभाव की प्रामाणिकता, न=नहीं है।

व्याख्या—प्रमेय को सिद्ध करने के लिय प्रमाण होता है। जिसके द्वारा प्रमेय की सिद्धि न हो, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभाव के द्वारा भी प्रमेय की सिद्धि नहीं होती, इसलिए उसे भी प्रमाण मानना ठीक नहीं है। जैसे गऊ को सिद्ध करने के लिए घोड़े का प्रमाण दें तो उससे गऊ सिद्ध नहीं हो सकती। तो इस प्रकार विषय को सिद्ध न होने का अभाव कहेंगे और यह अभाव प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आ सकता। अब, इसका समाधान करते हैं–

लक्षितेष्वलक्षण लक्षितत्वादऽलक्षितानां तत्प्रमेय सिद्धेः ।८।

सूत्रार्थ–लक्षितेषु=कहे गये पदार्थों में, अलक्षितानाम्=न कहे हुए पदार्थों का, अलक्षण लक्षितत्वात्=लक्षण दिखाई न देने से, तत्प्रमेय=अभाव प्रमेय को, सिद्धिः=सिद्ध होती हैं।

व्याख्या–यदि प्रमेय की सिद्धि हो तो अभाव के प्रमाण होने में किसी आपत्ति की सिद्धि नहीं होती। जैसे एक स्थान पर कई घड़े रक्खे है. उनमें कुछ पर चिन्ह हैं और कुछ बिना चिन्ह के हैं, उनके सम्बन्ध में नौकर को आदेश दिया कि उस स्थान से बिना चिन्ह के घड़े उठाला, तो वह जिन घड़ों पर चिन्ह का अभाव देखेगा, उन्हें ले आवेगा। इस प्रकार, उसे चिन्ह के अभाव से ज्ञान हुआ तो अभाव का प्रमाण होना सिद्ध हो गया। इसकी अन्य युक्ति भी दी जाती है।

असत्यर्थे नाऽभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ।९।

सूत्रार्थ–अर्थे=विषय के, असति=न होने से, अभावः=अभाव, न=नहीं बनता, चेत्=यदि, इति=ऐसा कहो तो, न=नहीं कह सकते, क्योंकि, अन्यलक्षणोपपत्तेः=अन्य पदार्थ में लक्षण मिलते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या जो वस्तु पहिले हो और फिर न रहे तो उसको अभाव कह सकते हैं, किन्तु जो वस्तु पहले नहीं थी, उसका अभाव कैसे कहा जा सकता है। यथार्थ में भाव का नष्ट होना ही अभाव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का नाम होता है और अभाव तभी माना जायगा, जब नाम वाली वस्तु उपलब्ध नहीं होगी। नाम उसी वस्तु का होगा, जो पहिले कभी हो चुकी होगी। यदि कहें कि आकाश के फूल और खरगोश के सींग कभी नहीं होते, और न वे कभी होकर नष्ट हुए, परन्तु उनका नाम भी रखा गया और अभाव भी कहा जाता है, तो इसका समाधान यह है कि फूल और सींग संसार में प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, उनके नाम भी हैं ही। उन्हें आकाश और खरगोश के साथ जोड़कर श्लेष में अभाव कह दिया जाता है। यदि फूल और सींग संसार में न होते तो उनका नाम भी नहीं होता और अभाव नहीं कहा जाता। फूल के जो लक्षण हैं वे आकाश में नहीं होते इसीलिए अभाव कहा जाता है। जो चिन्ह संसार में दिखाई नहीं देते उनका अभाव कहना उचित नहीं। इस पर शंका करते हैं—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ।१०।

सूत्रार्थ – तत्सिद्धे=चिन्ह वाले पदार्थ में लक्षण मिलने से, अलक्षितेषु=बिना चिन्ह वाले पदार्थ का अभाव, अहेतुः=ज्ञान का हेतु नहीं है।

व्याख्या—चिन्ह वाले घड़ों में जो लक्षण मौजूद हैं, उन लक्षणों का अभाव अलक्षित वस्तु में कहना ठीक नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ के स्वरूप और अस्तित्व का ठीक ज्ञान होगा, वही पदार्थ अपने स्वरूप के कारण दूसरे से पृथक् अस्तित्व रखेगा और उसी का न होना अभाव कहा जायगा। जिस वस्तु का स्वरूप नहीं, वह वस्तु अपने को किसी से पृथक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं कर सकती। इसलिए उनका अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अब इसका समाधान करते हैं।

न लक्षणावस्थितापेक्ष सिद्धेः ।११।

सूत्रार्थ—लक्षणावस्थित=लक्षण से अवस्थित की, अपेक्ष-सिद्धेः=उपेक्षाकृत अभाव सिद्धि, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—जिस वस्तु का जो लक्षण है, वह उसी वस्तु में होगा अलक्षित वस्तु में तो हो ही नहीं सकता। जिन लक्षणों को नही देखते, उनमें लक्षण के अभाव से अपेक्षा सिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कोई कहे कि इन पुष्पों में से लाल पुष्पों को छोड़कर अन्य पुष्प लाओ। पुष्प के लक्षण तो सभी पुष्प में पाये जाते हैं, परन्तु कोई लाल हैं कोई पीला, कोई नीला आदि विभिन्न रङ्ग के पुष्प होते हैं। अब जिन पुष्पों में लाल रङ्ग का अभाव होगा, उन पुष्पों को वह ले आयेगा। केवल लाल होने से ही उसे लाल रङ्ग के पुष्पों का ज्ञान हुआ, अन्य कोई प्रमाण उसके वैसे ज्ञान का कारण नहीं था। अब अभाव के लक्षण की सार्थकता में युक्ति देते हैं।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ।१२।

सूत्रार्थ—च=और, उत्पत्तेः=उत्पत्ति के, प्राक्=पहिले, अभावोपपत्तेः=अभाव से इसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—अभाव दो प्रकार का है—उत्पत्ति से पहले कभी वस्तु का अभाव होना प्रागभाव और किसी वस्तु के नष्ट होने से अभाव होना प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। किसी पदार्थ में लक्षण न होने से उसका ज्ञान होना प्रागभाव माना जायगा। अत्यंताभाव को भी कुछ लोग एक विशेष लक्षण कहते हैं, परन्तु अत्यंता भाव तो अनुत्पन्न वस्तु का ही हो सकता है। उसके नाम और लक्षण हो ही नहीं सकते, इसलिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसे अभाव के अन्तर्गत नहीं मान सकते । इसलिये, अभाव दो प्रकार के ही माने जाते हैं । अब शब्द की परीक्षा करेंगे ।

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥१३॥

सूत्रार्थ--विमर्शहेत्वनुयोगे=संशय हेतु होने पर, विप्रतितत्तेः =विप्रतिपत्ति से शब्द से नित्यत्व और अनित्यत्व में, संशयः= संशय होने के कारण उसे सिद्ध करना है ।

व्याख्या – शब्द नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है । जहाँ अकाश का गुण है, वहाँ नित्य और जहां पृथिवी आदि तत्वों का गुण है, वहां उसका अनित्य होना सिद्ध होता है । इसमें विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं । किसी का कहना है कि शब्द केवल आकाश का गुण है और वह व्यापक तथा नित्य है । शब्द उत्पन्न नहीं होता, उसका केवल आविर्भाव होता है । किसी विद्वान का मत है कि शब्द जड़ आकाश का गुण है और वह पृथिवी आदि के गुणों की तरह नाशवान् है । कोई आचार्य उसे इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान के समान उत्पन्न होने और नष्ट होने वाला मानते है । अब, अगले सूत्र में शब्द के अनित्य होने में युक्ति देते हैं ।

आदिमत्वात् ऐन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥१४॥

सूत्रार्थ—आदिमत्वात्=आदिमान होने से, ऐन्द्रियकत्वात्= इन्द्रिय का विषय होने से, च=और कृतकवत्=वनी हुई वस्तु-ओं के समान अनित्य होने से, उपचारात्=उपचार पूर्वक हुआ मानते हैं ।

व्याख्या—शब्द कारण वाला है, इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है और वनी हुई वस्तुओं के समान उपयोग में आने से उसे नित्य नहीं मान सकते । जो पदार्थ अनादि नहीं' आदि है, वे नित्य नहीं होते और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य वही पदार्थ होते हैं, जो संयोग से उत्पन्न होते हों। जो पदार्थ नित्य हैं, वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करता है, वैसे ही बोलने वाला मुख से बोल कर शब्द को बनाता है, इससे भी शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध होता है। शब्द संयोग जनित कैसे है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि यदि होठों को बन्द करके बोलना चाहें तो शब्द निकलेगा नहीं क्योंकि वायु के आने-जाने का मार्ग रुक जाता है और शब्द की उत्पत्ति वायु के संयोग विना हो नहीं सकती। अब इस युक्ति में व्यक्तिचार-दोष को दिखावेंगे।

न घटाभाव सामान्य नित्यत्वात् नित्येष्वनित्य-वदुपचाराच्च ।१५

सूत्रार्थ—घटाभाव=घट का अभाव, सामान्य नित्यत्वात्: =सामान्य के नित्यत्व से, च=और, नित्येषु=नित्यों में, भी, अनित्यवत्=अनित्य के समान चपचारात=उपचार होने से, न=हेतु की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—शब्द के अनित्य होने से आदि वाला होना कहा है वह ठीक नहीं। क्योंकि, घड़े आदि का अभाव भी आदि वाला है और आये दिन टूटता-फूटता रहने से अभाव को नित्य कहा जा सकता है। जब घड़ा नष्ट हो जाता है, तब उसकी उत्पत्ति भी सिद्ध होती है। इस प्रकार आदि वाले घड़े का अभाव नित्य होना सिद्ध होने से, आदि वाले शब्द का नित्यत्व भी सिद्ध होता है। शब्द इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, इसलिए नित्य नहीं हो सकता, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि घड़े का घटत्व भी इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण होता है, इसमें घड़े आदि की जाति घटत्व, पटत्व, आदि हैं, वह सब वस्तुओं में अपने-अपने लक्षण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहित रहती है। इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाने से उसका अनित्यत्व नहीं कह सकते। इसीलिए शब्द का अनित्यत्व भी नहीं कहा जा सकता जैसे, अनित्य पदार्थों के विभाग होते हैं वैसे ही नष्ट न होने वाले आकाश के विभाग होना ही सम्भव है। जैसे आकाश, महाकाश, घन्टाकाश आदि। इस प्रकार विभाग होने पर भी आकाश को नाशवान् नहीं माना जा सकता। जैसे, आत्मा कभी दुःखी, कभी सुखी अथवा कभी जन्म लेता, कभी मर कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है, तो उससे आत्मा का अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, आत्मा नहीं मरता, शरीर ही मरता है। आत्मा की विभिन्न स्थिति उसके परिवर्तन की सूचक हैं, नष्ट होने की सूचक नहीं, इसी प्रकार शब्द के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ।१६।

सूत्रार्थ—तत्वाभाक्तयोः=मुख्य व गौण के, नानात्वविभागात्=अनेक भेद होने से, अव्यभिचारः=व्यभिचार का हेतु नहीं है।

व्याख्या—मुख्य और गौण के भेद से व्यभिचार-दोष नहीं बनता। नित्य वस्तु की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है। आत्मा, आकाश आदि पदार्थ सदा एक रूप में रहते हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता, इसलिए वे यथार्थ रूप में नित्य हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है, वही नाशवान् है। इसी से शब्द के नित्य होने में कोई दोष उपलब्ध नहीं होता। अब व्यभिचार दोष के परिहार में तीसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

सन्तानानुमानविशेषणात् ।१७।

सूत्रार्थ—सन्तानानुमान=सन्तान अनुमान का, विशेषणात्=विशेषण होने से भी व्यभिचार-दोष नहीं बनता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—शब्द में परम्परा के अनुमान विशेषण से भी शब्द का अनित्य होना सिद्ध होता है वादी का यह कहना कि जाति का ज्ञान भी इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु यह अनित्य नहीं है इसी प्रकार, शब्द भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने के कारण अनित्य नहीं हो सकता। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने मात्र से शब्द का ही अनित्यत्व सिद्ध है। शब्द सन्तान के समान उत्पन्न होने वाला है, वह वायु के प्रहार से तथा मुख आदि की चेष्टा से उत्पन्न होता है। इसलिए भी उसका नित्य होना नहीं माना जा सकता।

**कारण द्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्य-
व्यभिचार इति ॥१८॥**

सूत्रार्थ—प्रदेश शब्देन=प्रदेश शब्द से, कारणद्रव्यस्य=कारण द्रव्य का, अभिधानात्=कथन होने से, नित्येषु=नित्य वस्तुओं में, अपि=भी, इति=यह, अव्यभिचारः=व्यभिचार का हेतु नहीं है।

व्याख्या—कारण द्रव्य की प्रदेश शब्द के द्वारा कहा जाने से नित्य पदार्थों में भी व्यभिचार-दोष का प्रसङ्ग नहीं आता। यदि आत्मा का प्रदेश अथवा आकाश का प्रदेश कहा जाता है तो इससे आत्मा अथवा आकाश के कारण द्रव्य से तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि परि-च्छिन्न द्रव्य के साथ आकाश का व्यापक संयोग नहीं है। आकाश तो स्वयं ही बहुत विशाल है, उसका घट आदि वस्तुओं के साथ संयोग का होना एक देशीय है, सर्वदेशीय नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मा का प्रदेश कहने से समझ लेना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण द्रव्य का प्रदेश कथन करने से नित्य पदार्थों में व्यभिचार दोष की सिद्धि नहीं होती। अब शब्द का अनित्यत्व बताते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रागुच्चारणाद्यनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ।१९।

सूत्रार्थ—उच्चारणात्=उच्चारण से, प्राक्=पहिले, अनुपलब्धेः=उपलब्ध न होने से, च=और, आवरणाद्यनूपलब्धेः=आवरण आदि प्रतिवधों के न मिलने से शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या उच्चारण करने से पहिले शब्द का कहीं अस्तित्व नहीं होता। यदि अस्तित्व होता, तो सुनाई पड़ता। यदि यह कहें कि शब्द छिपा रहता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, शब्द छिपा रहता तो कोई आवरण छिपने के लिए होना चाहिए था। परन्तु, आवरण भी नहीं मिलता। इससे यह मान्यता ठीक है कि शब्द अनित्य है। वह मुख आदि की चेष्टा से तथा वायु के संयोग से उत्पन्न होता है, इसलिये उत्पत्ति वाला है और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं हो सकती। यदि शङ्का करें कि शब्द तो नित्य है, उच्चारण से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, तो यह शङ्का निर्मूल है। क्योंकि उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) नहीं, बल्कि उत्पत्ति ही होती है। जब बोलने की आवश्यकता होती है, तब आत्मा की प्रेरणा से हृदयस्थ वायु कण्ठ और तालु आदि स्थानों पर एक प्रकार का प्रहार करता है। जैसे वीणा के तारों पर अंगुली के प्रहार से विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही कण्ठ आदि स्थानों पर वायु के द्वारा प्रहार होने से विभिन्न शब्दों को उत्पन्न होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न होने वाला है (अब, पूर्वपक्ष के आरोप को अगले सूत्र में कहते हैं।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपत्तिः ।२०।

सूत्रार्थ - तदनुपलब्धेः=उस आवरण की उपलब्धि न होना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुपलम्भात=प्रतीत न होने से, आवरणोपपत्तिः=आवरण का अभाव नहीं है।

व्याख्या—उत्तर पक्ष का यह कहना कि शब्द को छिपे रहने के लिए कोई आवरण प्रतीत नहीं होता, इसलिये शब्द का छिपाना सिद्ध नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि आवरण में दिखाई न देने से ही आवरण का न होना नयी माना जा सकता। इस पर अन्य युक्ति अगले सूत्र में देते हैं।

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ।२१।

सूत्रार्थ—अनुपलम्भात्=प्रतीत न होने से, अपि=भी, अनुपलब्धि=अप्राप्ति के, सद्भाववत्=सद्भाव के समान (होने के समान) अनुपलम्भात=दिखाई न देने मात्र से, आवरण-अनुपपत्तिः=आवरण का न होने, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने को अनुपपत्ति कहते हैंऔर अनुपलब्धि का अभाव ही उसका प्रत्यक्ष होना है। यदि आवरण की प्राप्ति पर भी उसकी अप्राप्ति मानें तो भी उसके अस्तित्व में कोई रुकावट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि कण्ठ, मुख, वायु आदि संयोग कारणों से आवरण को पृथक् कर शब्द प्रत्यक्ष होता है। यह पहिले से विद्यमान रहता है, इसीलिए अविद्यमान शब्द का प्रत्यक्ष होना नहीं मान सकते। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द अनित्य नहीं है अब इस पक्ष का समाधान करते हैं—

अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ।२२।

सूत्रार्थ—अनुपलब्धेः=आवरण के उपलब्ध न होने पर और अनुपलम्भात्मकत्वात्=उपलम्भ का अभाव होने से, अहेतुः=यह युक्ति मानने योग्य नहीं हो सकती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—अस्तित्व उसी वस्तु का माना जाता है जो वस्तु उपलब्ध होती है, जिसकी उपलब्धि नहीं, उसका अभाव कहना ही युक्ति संगत है ज्ञान का न होना अनुपलब्धि है,इसलिए उसका होना नहीं कह सकते। यदि आवरण है तो उसकी अवलब्धि होनी चाहिये और वह अनुभव में आना चाहिये। जब तक आवरण के होने का ज्ञान नहीं होगा, तब तक आवरण की सत्ता सिद्ध न होगी। यदि कोई कहे कि किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी उसका अस्तित्व सिद्ध है तो यह केवल भ्रम होगा। क्योंकि अभाव का कारण अभाव नहीं माना जा सकता। जो पदार्थ अभाव रूप है, इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं है। आवरण का अभाव तो है नहीं, फिर उसकी उपलब्धि क्यों नहीं ? यदि उपलब्धि नहीं तो आवरण का न होना ही कहना पड़ेगा। अब, पूर्वपक्ष की युक्ति देते हैं।

अस्पर्शत्वात् ।२३।

सूत्रार्थ—अस्पर्शत्वात्=स्पर्श रहित होने से भी शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— सभी संयुक्त पदार्थ स्पर्श वाले हैं अर्थात् छूने से वे अनुभव में आते हैं। जो पदार्थ संयुक्त नहीं होते, उनका स्पर्श नहीं हो सकता। शब्द भी स्पर्श रहित है और संयुक्त नहीं बल्कि सूक्ष्म है। जो पदार्थ संयुक्त हैं, वे ही अनित्य होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द नित्य है। अब, इसका समाधान करते हैं—

न कर्मानित्यत्वात् ।२४।

सूत्रार्थ=कर्मानित्यत्वात्=कर्म के नित्य न होने से, न= उपर्युक्त हेतु मान्य नहीं है।

व्याख्या – कर्म भी स्पर्श-रहित है, परन्तु, वह नित्य नहीं है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी से सिद्ध होता हैं कि स्पर्श रहित होने से शब्द भी नित्य नहीं हो सकता । अब, इसके नित्यत्व में प्रमाण देते हैं ।

नाणुनित्यत्वात् ।२५।

सूत्रार्थ—अणुनित्यत्वात्=अणु के नित्य होने से भी, यह कथन, न=उपयुक्त नहीं है।

व्याख्या—अणु स्पर्शवान् होने पर नित्य है । इसलिए स्पर्श वाला पदार्थ अनित्य होता है और स्पर्श-हीन नित्य होता है, यह कहना ठीक नहीं है । अगले सूत्र में शब्द के नित्यत्व की और भी युक्ति देते हैं ।

सम्प्रदानात् ।२६।

सूत्रार्थ—सम्प्रदानात्=विद्यमान वस्तु देने से भी ऐसा ही मानना युक्ति सङ्गत है ।

व्याख्या—शब्द का सम्प्रदान होने से भी उसका नित्य होना सिद्ध हैं अर्थात् गुरू द्वारा शिष्य को उपदेश दिया जाता है, उस उपदेश के जो शब्द हैं, वह शिष्य के पास सुरक्षित रहते हैं और जब शिष्य अपने शिष्य को उन्हीं शब्दों दारा उपदेश देता हैं, तब यह उस शिष्य की थाती हो जाते हैं । इस प्रकार परम्परागत षब्द-ज्ञान के चलते रहने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता हैं । दूसरे गुरु द्वारा शिष्य को विद्या-दान दिया जाता है । दान में वही वस्तु दी जा सकती है जो पहिले से विद्यमान, हो, अविद्यमान वस्तु का दान नहीं किया जा सकता। इस युक्ति से भी शब्द का उच्चारण से पूर्व होना सिद्ध है । इस प्रकार शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है ।

तदन्तरालाऽनुपलब्धेरहेतुः ।२७।

सत्रार्थ—तदन्तरालानुपयब्धेः=विद्यार्थी के हृदय में शब्द की उपलब्धि नहीं होती, यह अहेतुः=हेतु मान्य नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—पूर्व पक्ष उपरोक्त सूत्र के समाधान में कहता है कि जब विद्यार्थी को उपदेश देने से पहिले और बाद में भी शब्द की उपलब्धि नहीं होती, तब शब्द के नित्य होने में यह हेतु किसी प्रकार ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, गुरु के बोलते समय शब्द उत्पन्न होता है, तब उसके पहिले पीछे भी विद्यमान रहने का क्या प्रमाण है? यदि शब्द नित्य होता तो वह बोलने से पहिले भी सुनाई देता और चुप हो जाने पर सुनाई देना बन्द नहीं हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द बोलने से पहिले-पीछे विद्यमान नहीं रहता, इसलिए वह नित्य भी नहीं हो सकना। अब उत्तर पक्ष को पुनः प्रस्तुत करते हैं—

अध्यापनादप्रतिषेध ।।२८।।

सूत्रार्थ—अध्यापनात्=अध्यापन के होने से, अप्रतषेध=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—गुरु के हृदय में पहिले से जो शब्द विद्यमान रहते हैं, उन्हीं में से जिन शब्दों का उपदेश रूप में कथन करना होता है उन्हें कहा जाता है। इससे शब्दों का, बोलने से पहिले पीछे भी अस्तित्व रहना सिद्ध होता है। यदि, यह मान लें कि उपदेश के वे शब्द गुरु के हृदय में पहिले से विद्यमान नहीं रहते तो गुरु और शिष्य में जो अन्तर रहना चाहिये, वह नहीं रह सकता। फिर भी तो जैस शिष्य ज्ञान-रहित वैसा ही गुरु भी ज्ञान-रहित ही होगा। जब उसके पास शब्द ही नहीं है, तो वह पढ़ायेगा क्या? यदि वह कहे कि शब्द बाद में नहीं रहता, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि बाद में शब्द के न रहने से शिष्य को दी गई विद्या तभी तक रह सकती है, जब तक शब्द बोले जाँय। इसके बाद प्राप्त विद्या भी नष्ट हो जानी चाहिए। अंधेरा होने पर विद्यमान वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं, उसमें प्रकाश का अभाव होता है, वस्तुओं का अभाव नहीं होता, वैसे ही मुख कण्ठ, तालु आदि के प्रयत्न-रहित होने पर शब्द भी प्रकट नहीं होता परन्तु उसकी सत्ता का अभाव नहीं होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इससे सिद्ध हुआ कि शब्द नित्य है। अब, अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं।

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादतिषेधः ।२९।

सूत्रार्थ--अध्यापनात्=अध्यापन होने से, अन्यतस्य=दूसरे पक्ष का (अनित्य कहने वाले पक्ष का) अप्रतिषेधः निषेध नहीं बनता, इसलिये, उभयोः=दोनों, पक्षयोः=पक्षों में समानता है।

व्याख्या—शब्द नित्य हो अथवा अनित्य, दोनों स्थितियों में ही अध्यापन कार्य चल सकता है। विद्याःदान अन्य विद्यमान वस्तुओं के समान नहीं है। इसमें तो गुरु अपने प्रयत्न विशेष से शिष्य को पढ़ाता है। प्रयत्न वही है कि उसे बोलने के लिए मुख, कण्ठ, तालु आदि से काम लेना पड़ता है। इसलिए, विद्या-दान को विद्यमान वस्तु के दान के समान नहीं मान सकते। इससे शब्द का अनियत्व ही सिद्ध होता है। इस पक्ष का पुनः समाधान करते हैं।

अभ्यासात् ।३०।

सूत्रार्थ--अभ्यासात्=अभ्यास के होने से शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—बार-बार के प्रयोग को अभ्यास कहते हैं। शब्द का उच्चारण बारम्बार होता है इससे शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है। जैसे कोई मनुष्य कहे कि मैंने अमुक वस्तु को कई बार देखा। यदि वह वस्तु नित्न न होती तो कई बार नहीं देखी जा सकती थी। इसी प्रकार शब्द को अनेक बार बोलते देखहर शब्द का निष्य होना ही सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इस पक्ष का परिहार कहते हैं।

नान्यत्वेप्यभ्यासस्योपचारात् ।३१।

सूत्रार्थ—अन्यत्वे=भेद होने के कारण, अपि=भी अभ्या-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सस्य=अभ्यास का, उपचारात्=उपचार होने से, न=समीचीन नहीं है।

व्याख्या—नित्य न होते हुए भी अभ्यास का व्यवहार बारम्बार हो सकता है इसलिए उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है। जैसे दो बार खाता है, मकान को तीन बार झाड़ता-बुहारता है, इस प्रकार अनेक बार करने से कोई कार्य नित्य नहीं हो सकता। इसलिए शब्द के बार-बार उच्चारण किये जाने से नित्य नहीं मान सकते। अगले सूत्र में भेद का निषेध करते हैं।

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ।३२।

सूत्रार्थ- अन्यस्मात्=अन्य पदार्थों से, अनन्यत्=अभिन्न होने से तथा, अनन्यत्वात्=स्वरूप से, अनन्य होने से भी, अनन्यत्=अनन्य ही है, इति=इस प्रकार, अन्यत=भेद का, अभाव:=अभाव है।

व्याख्या—भेद होने पर भी अभ्यास का उपचार पूर्वक होना सिद्ध होता है, इसलिए, भेद कोई पदार्थ नहीं। यदि भेद होना स्वीकार करें तो उसी वस्तु को दुबारा होना नहीं कह सकते, बल्कि अन्य वस्तु का होना मानना पड़ेगा। इसलिये भेद मानने पर एक शब्द का बार-बार कहना सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये वस्त्र शब्द को चाहे जितनी बार कहो उससे एक वस्तु अर्थात् वस्त्र का ही बार-बार बार बोध होगा, किसी भिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार बार-बार कहे जाने सें शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इसका खण्डन करेंगे।

तदभावेनास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ।३३।

सूत्रार्थ—तद्भावे=भिन्नता का अभाव होने पर, अनन्यता =अभिन्नता, न अस्ति=नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, वय:

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

=उन दोनों की, इतरेतर-अपेक्ष-सिद्धेः=पारस्परिक अपेक्षा सिद्ध होती है।

व्याख्या—जो अन्य नहीं, वह अनन्य कहा जायगा, इसलिए अन्य से अन्य कहकर खन्डन करना युक्ति-सङ्गत नहीं है। जब अन्य कोई पदार्थ नहीं, तो उसके अभाव का भी प्रश्न नहीं उठता। इसलिए अन्य की सिद्धि के विना, एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक और अन्य यह दोनों एक दूसरे की अपेक्षा से ही है। जब, अन्य के अभाव में अनन्यता सिद्ध नहीं होती, तो अनन्यता के अभाव से शब्द का नित्य होना ही कैसे सिद्ध हो सकता है ? अब, शब्द के नित्यत्व को पुनः कहेंगे।

विनाशकारणानुपलब्धेः ।३४।

सूत्रार्थ—विनाश कारण-अनुपलब्धेः=विनाश कारण के उपलब्ध न होने से भी शब्द की नित्यता सिद्ध है।

व्याख्या—शब्द के नाश होने का कोई कारण नहीं मिलता। इसलिये शब्द के नित्य होने की सिद्धि है। अनित्य पदार्थ का विनाश किसी न किसी कारण से ही होता है जैसे घड़ा टूटने से नष्ट होता है, वस्त्र फटने से नष्ट होता है। ऐसे ही अन्य पदार्थों के नष्ट होने का भी हेतु होता है। परन्तु शब्द भी अनित्यता की सिद्धि के लिये उसके विनाश का कोई कारण दिखाई नहीं देता। अब इसका निषेध करते हैं।

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ।३५।

सूत्रार्थ—अश्रवणकारणानुपलब्धे=सुनाई न पड़ने का कोई कारण उपलब्ध न होने से, सतत श्रवण प्रसङ्गः=सदा सुनाई देते रहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—शब्द के सुनाई न पड़ने का कोई कारण दिखाई नहीं देता, इसलिये शब्द हमेशा सुना जाना चाहिये। परन्तु हमेशा सुनाई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं पड़ता । इससे, कारण दिखाई न पड़ने से ही किसी बात की सिद्धि नहीं हो सकती, तो विनाश का कारण दिखाई न देने मात्र से ही उसका नित्यत्व सिद्ध नहीं होता । इस पक्ष में एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं ।

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्वादनपदेशः ।३६।

सूत्रार्थ--च=एवं, उपलभ्यमाने=विनास का कारण होने से, अनुपलब्धेः=उपलब्ध न हुए का, असत्वात्=अभाव है, इस लिये, अनुपदेशः=यह हेतु ठीक नहीं है ।

व्याख्या—शब्द के नियत्व का जो हेतु कहा, वह स्वरूप सिद्ध होने से शब्द के नित्य होने को सिद्ध नहीं करता । अर्थात् शब्द के नष्ट होने का कारण अनुमान से जाना जाता है, इसलिए शब्द को नित्य सिद्ध करने में विनाश कारण के न होने को प्रस्तुत करना युक्तियुक्त नहीं है । अगले सूत्र में शब्द के नष्ट होने का कारण कहते हैं ।

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ।३७।

सूत्रार्थ—पाणि निमित्त प्रश्लेषात्=हाथ के निमित्त से पकड़ लेने पर, शब्दाभावे=शब्द का अभाव होने से, अनुपलब्धि= उसको निवास कारण को आप्राप्ति, न=नहीं होती ।

व्याख्या—घण्टे को बजाकर हाथ से पकड़ लें तो उससे शब्द बन्द हो जाता है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है । दण्ड से चोट मारने पर वह शब्द उत्पन्न हुआ या और हाथ के संयोग से नष्ट हो गया, तब वह नित्य कैसे कहा जायगा ? अब इसका निवेचन फिर करते हैं ।

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने
तन्नित्यत्व प्रसङ्गः ।३८।

सूत्रार्थ—विनाश कारणानुपलब्धेः=विनाश-कारण के न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलने से, च=और, अवस्थाने=शब्द के स्थिर होने से, तन्नित्यत्व=उसके नित्य होने का, प्रसङ्गः=प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—जिससे नष्ट होने का कारण प्रकट नहीं है, वह शब्द ठहरने के कारण नित्य होगा। पूर्व पक्षीय के मत में नाशकारण के उपलब्ध न होने पर भी शब्द का मुख से निकलना नित्यत्व को सिद्ध नहीं करता। क्योंकि, शब्द सदा ही प्रत्यक्ष नहीं रहता, और निवास-कारण न मिलने से शब्द का अनित्य होना ही माना जा सकता है। इस पर पूर्ण-पक्ष पुनः शङ्का करता हैं।

अस्पर्शत्वादप्रतिषेध ।३६।

सूत्रार्थ—अस्पर्शत्वात्=शब्द का आधार स्पर्श-रहित होने से, अप्रतिषेध=निषेध ठीक नहीं।

व्याख्या—शब्द के स्पर्श रहित होने से, यदि घण्टे को हाथ से पकड़ कर शब्द को रोक भी लें, तो भी शब्द का नाश नहीं होता। शब्द आकाश का गुण होने से आकाश में सदा विद्यमान रहता है। घण्टे पर दण्ड का प्रहार करने से वह उत्पन्न नहीं होता। इस सम्बन्ध में अन्य हेतु भी हैं।

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ।।४०।।

सूत्रार्थ—च=और, समासे=शब्द स्पर्श समूह में नहीं रहता क्योंकि, विभक्त्यन्तरोपहत्तेः=भिन्न-भिन्न प्रकार से शब्द की उत्पत्ति पाई जाती है।

व्याख्या—समास में एक द्रव्य में भी विभक्ति पाई जाने से भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द उपलब्ध होते हैं। घण्टा बजा कर हाथ से छूने पर ही शब्द रुक जाता हो, ऐसा सहीं है, किन्तु एक ही घण्टे में अनेक विभक्तियों के शब्द सुनाई देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आकाश के सिवाय अन्य द्रव्य भी शब्द में भेद उत्पन्न करने के कारण हैं। इसलिए शब्द का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभाग भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं करता। शब्द के दो भेद हैं, जिनमें से ध्वन्यात्मक शब्द का विवेचन किया जा चुका, अब वर्णात्मक शब्द की परीक्षा प्रारम्भ करेंगे।

विकारादेशोपदेशात्संशयः ।४१।

सूत्रार्थ--विकारादेशोपदेशात्=विकार तथा आदेश का उपदेश होने से, संशयः=दोनों पक्ष संदेहास्पद हैं।

व्याख्या—वर्णात्मक शब्द में विकार और आदेश दोनों पाये जाते हैं इसलिये इसमें सन्देह है। जैसे, व्याकरण के अनुसार 'इ' को 'य' किया जाता है, तब यकार इकार का विकार होता है, यथा–सुधी × उपास्यः —सुध्युपास्यः। विकार का तात्पर्य है—अपने रूप को बदल कर दूसरे रूप में हो जाना। जैसे दूध का दही होना। आदेश भी उसे कहते हैं, जो स्थानींय के स्थान में होता है, जैसे 'इ' के स्थान में होता है। इस को कोई आदेश कहते हैं कोई विकार कहते हैं। यदि कहें कि यकार यकार का कारण हो जायगा और ऐसा होने पर इ' का स्वरूप ही न रहेगा जैसे दूध का दही बन जाने पर दूध का नाश हो जाता है। परन्तु शब्द में इकार का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इसलिये विकार नहीं कह सकते। यदि कहें कि दो कपालों को मिलाने पर घड़ा रूप कार्य बन जाता है, वहां कारण रूप कपाल का नाश नहीं होता, परन्तु कपाल और घड़े में कारण और कार्य का सम्बन्ध है, जो इकार और यकार में नहीं है, इसलिए इसे आदेश कहना ही उपयुक्त है। यदि कहें कि इकार और यकार में भी कारण और कार्य का सम्बन्ध मानने में क्या हानि है? तो इसका समाधान यह है कि यदि इकारा में कुछ अधिक होकर यकार बनता तो उसका कारण कार्य का भाव हो सकता था, परन्तु ऐसा न होने से कारण कार्य भाव हो सकता। जैसे किसी गाड़ी में बैल के स्थान पर घोड़े को जोत दें तो घोड़ा बैलका स्थानापन्न तो होताहै, परंतु वह बैलका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य नहीं होता। इसी प्रकार, इकार के स्थान में यकार बोल देना विकार नहीं आदेश हो सकता है। सभी अक्षर नित्य हैं, इसलिए किसी अक्षर का कोई अक्षर विकार नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिविवृद्धौ विकार विवृद्धेः ।४२।

सूत्रर्थ—प्रकृति विवृद्धौ=प्रकृति की वृद्धि से, विकार विवृद्धः=विकास की वृद्धि होती है।

व्याख्या—जब किसी कार्य का उपादान कारण बढ़ जाता है, तो कार्य की भी वृद्धि हो जाती है। जैसे, एक सेर दूध का जितना दही बनेगा, दो सेर दूध से उसका दुगना दहीं बनेगा। परन्तु वर्णों में ऐसा नहीं होता। जैसे, एक इकार से यकार बनेगा, वैसे दो इकार के संयोगसे से यकार दुगुना नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि वर्णों में विकार नहीं होता। अगले सूत्र में इस पर शङ्का करते हैं।

न्यून समाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ।४३।

सूत्रर्थ—अहेतुः=उपरोक्त हेतु मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि विकाराणाम्=विकारों का, न्यूनसामामिक=कम, अधिक और समान होना, उपपत्तेः=पाया जाता है।

व्याख्या—प्रकृति का कम या अधिक होना विकारों के कम अधिक होने में प्रमाण नहीं हो सकता। यह कहना कि 'इ' बड़ी होने से 'य' बड़ा नहीं होता, इससे वर्णों में विकार सिद्ध नहीं होता, उति हेतु नहीं है। क्योंकि, विकारों का कम, अधिक और समान तीनों प्रकार से उत्पन्न होना पाया है। बड़े कारणों से छोटे कार्य भी उत्पन्न होते हुये देखे जाते हैं। जैसे रुई बहुत होती है, परन्तु उसका कपड़ा थोड़ा बनता है, और बट का बीज छोटा होता है, उससे कितना बड़ा वृक्ष बन जाता है, यह कम कारण से अधिक कार्य हुआ। और समान यह है कि स्वर्ण जितना होगा, उतना ही आभूषण बनेगा। इससे सिद्ध हुआ कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकार न्यून, अधिक और समान तीनों प्रकार के पाये जाते हैं, इसलिए वर्णों में विकार का मानना अयुक्त नहीं है। अब इसका समाधान करतेहैं।

ननाऽतुतुल्यप्रकृतीनां विकार विकल्पात् ।४४।

सूत्रार्थ—अतुल्य प्रकृतीनाम्=विलक्षण प्रकृति से उत्पन्न विकार, विकल्पात्=विकार की विरूपता से, न=ऐसा कहना युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता।

व्याख्या—कारण की विरूपता से कार्य की विरूपता होती है। इसलिए प्रकृति को बड़ा, छोटा और समान कहकर विकार दिखाया और वर्णों में विकार न होने का निषेध किया, वह अनुपयुक्त है। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, एक जैसे नहीं होते। वट वृक्ष से आम उत्पन्न होता कभी नहीं देखा जाता। यदि 'इ' का विकार 'य' होता तो इकार और यकार में सजातीयता होनी चाहिए थी। परन्तु, ऐसा न होने से विकार की मान्यता नहीं बनती। अब पूर्व-पक्ष की पुष्टि में कहते हैं–

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकाविकल्पः ।४५।

सूत्रार्थ - द्रव्य विकार वैषम्यवत्=द्रव्य विकार में विषमता होने के समान, वर्ण विकार विकल्पः=वर्ण विवार में भी विकल्प समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे द्रव्यों से उत्पन्न विकार विषय हो जाते हैं, वैसे ही वर्णों के विशय विकारों की उत्पत्ति समझनी चाहिए। मीठे दूध से भी खट्टा दही आदि विषय त्रिकार उत्पन्न होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, ऐसे ही ह्रस्व अथवा दीर्घ इकार से भी विषय यकार हो जाता है अगले सूत्र में इसका खन्डन करेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न विकार धर्मानुऽपपत्तेः ।४६।

सूत्रार्थ—विकार धर्मानुपपत्तेः=यकार आदि वर्णों में विकार धर्म की प्राप्ति नहीं होती ऐसा कहना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—विकार धर्मों की उपलब्धि न होने से इकार का विकार यकार नहीं हो सकता। मिट्टी का विकार मिट्टी और स्वर्ण का विकार स्वर्ण ही होगा। परन्तु इकार और यकार में ऐसा लक्षण नहीं मिलता, उसका स्वरूप भिन्न होने से उसे विकार नहीं मान सकते। शब्द तो गुण है वह किसी दूसरे गुण का आश्रय नहीं हो सकता। जो गुण विकार से उत्पन्न होने वाले हैं, वे द्रव्य में ही होते हैं। क्योंकि, द्रव्य से परमाणुओं का संघात होने के कारण कुछ अंश पृथक होकर और कुछ अन्य अंश मिलकर एक पृथक रूप धारण कर लेते हैं, वही विकार है। परन्तु गुण न तो संयुक्त होता है, और न उसमें प्राणियों का संघात है। जब गुण में विकार धर्म का होना ही, सम्भव नहीं,तो शब्द में ही विकार कैसे होगा? इसलिए यही मान्यता ठीक है कि वर्ण में विकार नहीं होता। इसका और भी हेतु है—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ।४७।

सूत्रार्थ—विकार प्राप्तानाम्=विकार को प्राप्त द्रव्यों की, अपुनरावृत्तेः=पुनरावृत्ति नहीं होती, इससे भी वर्ण का विकार होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—जो वस्तु विकार को प्राप्त हो जाती है, वह पुनः अपने यथार्थ स्वरूप अर्थात् कारण रूप को प्राप्त नहीं होती। यह स्पष्ट देखा जाता है कि दूध का दही बन जाता है, तब उसका दुबारा दूध नहीं बनता। परन्तु वर्ण में इकार का यकार हो जाता है तो यकार का इकार भी हो जाता हैं। इसलिए वर्ण में विकार मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अब इस पर पुनः आक्षेप करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ।४८।

सूत्रार्थ=सुवर्ण आदीनाम्=स्वर्ण आदि की, पुनरापत्तेः= पुनरावृत्ति से, अहेतुः=यह हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या—ऊपर कहा गया है कि विकृत द्रव्य अपने यथार्थ स्वरूप में पुनः नहीं आता, जैसे दही बनने के बाद दूध पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करता। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, सोने के आभूषण बनने पर उसका रूप बदल जाता है और आभूषणों को तोड़कर उसे फिर असली रूप में किया जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त हेतु ठीक नहीं है। स्वर्ण के विकार आभूषण का पुनः अपना स्वरूप प्राप्त करने के समान ही इकार यकार होकर यकार से इकार होता है। अब इसका समाधान करते हैं—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ।४९।

सूत्रार्थ—तद्विकाराणाम्=सुवर्ण के विकारों के, सुवर्णभावा-व्यतिरेकात्=सुवर्ण रूप होने से, यह दृष्टान्त उचित नहीं है।

व्याख्या—सुवर्ण के विकारभूत द्रव्य सुवर्ण ही रहेंगे अर्थात् आभूषण बन जाने से सुवर्ण की सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता और न आभूषण सुवर्ण से कोई भिन्न वस्तु हो जाते हैं, वह तो सुवर्ण का सुवर्ण ही रहता है। इसलिए यहां पर यह दृष्टांत युक्त नहीं है। यदि विकृत हुआ द्रव्य भिन्न धर्म वाला होकर अपने यथार्थ रूप से पुन आ जाता हो, तो उसका दृष्टान्त ही यहां अपयुक्त हो सकता है। जैसे सुवर्ण में सुवर्ण का धर्म करता रहता है। वैसे इकार के यकार हो जाने पर उसमें इकार का धर्म नहीं रहता। इसलिए, यहां उक्त दृष्टान्त का कोई महत्व नहीं है। अब इस पर पुनः आक्षेप करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।५०।

सूत्रर्थ—वर्णत्वाऽव्यतिरेकात्=वर्णत्व में व्यतिरेक न होने से, वर्णविकाराणाम्=वर्णों के विकारों का,अप्रतिषेध=प्रतिषेध होना नहीं बनता ।

व्याख्या—वर्णत्व से अलग होने से वर्णों के विकार का निषेध नहीं होता । जैसे सुवर्ण का विकार सुवर्ण है, वैसे ही इकार का विकारयकार है । अर्थात् सुवर्ण के आभूषण में सुवर्ण का धर्म रहने के समान ही इकार से वने यकारमें भी वर्णत्व धर्म रहताहै इससे सिद्धहुआ कि वर्णमें शिकार निषेध करना युक्तिसङ्गत नहीं है अब इसका समाधान कहेंगे ।

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ।५१।

सूत्रर्थ—सामात्यवतो धर्मयोगः=कुण्डल आदि धर्म से युक्त सुवर्ण के साथ सम्बन्ध का रहना, सामान्यस्य=कुण्डलादि के साथ नहीं होता ।

व्याख्या –यकार इकार का विकारभूत नहीं हैं, उसकी प्राप्ति में सुवर्ण का उदाहरण ही युक्ति सङ्गत है क्योंकि, सुवर्ण स्वयं ही धर्म है तो फिर उसके विकार कुण्डल आमूषण उसके धर्म नहीं माने जा सकते । वर्णत्व धर्म में समानता है, और इकार यकार दोनों में इसका रहना सिद्ध होता है । इसलिए यकार को इकार का विकार नहीं मान सकते । अगले सूत्र में, इसी की पुनः पुष्टि करेंगे ।

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ।५२।

सूत्रार्थ—नित्यत्वे=नित्य होने के पक्ष में, विकारात्=विकार से, च=और, अनित्यत्वे=नित्य न होने के पक्ष पक्ष में अनवस्थानात्=अनवस्था होने से विकार की सिद्धि नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—यदि वर्ण को नित्य मानने लगें तो नित्य वस्तु में विकार नहीं होता। परन्तु वर्ण में विकार है तो उसे नित्य नहीं मान सकते। यदि वर्ण को अनित्य मानें तो दूसरे वर्ण के उच्चारण से ही पहिले वर्ण का नाश हो जाता है, तब वर्ण अनवस्थित होने से उसमें विकार नहीं हो सकता। इस प्रकार नित्य या अनित्य कुछ भी मानें, दोनों ही दशाओं में वर्ण में विकार होने की सिद्धि नहीं हो पाती। इसलिए, यही मान्यता ठीक है कि वर्ण किसी का विकार नहीं है। अगले सूत्र में उसका खण्डन करेंगे।

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्ण विकाराणामप्रतिषेधः ।५३।

सूत्रार्थ—नित्यानाम्=नित्य पदार्थों के, अतीन्द्रियत्वात्=अतीन्द्रिय होने से, च=और, तद्धर्मविकल्पात्=उनमें धर्म के भेद से, वर्णविकाराणाम्=वर्ण विकारों का, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—नित्य पदार्थों के धर्म अलग-अलग हैं। उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते। इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले मनुष्य जाति, पशु जाति आदि हैं और इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाले आकाश, काल आदि हैं। इसी प्रकार कोई नित्य विकारी है, कोई विकार रहित है। परन्तु, वर्ण नित्य होने पर भी विकारवान् है। यदि यह शङ्का करें कि विकार और अविकार तो परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, यह दोनों ही एक नित्य पदार्थ में कैसे हो सकते हैं? तो इसका समाधान यह है जि जैसे नित्य पदार्थों में इन्द्रिय ग्राह्य होना और इन्द्रिय-ग्राह्य न होना, यह विरुद्ध धर्म उपलब्ध होते हैं, वैसे ही उनमें विकार और अविकार भी रह सकते हैं। इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य होना नित्य पदार्थ में दोष नहीं लाता, परन्तु, विकार से नित्यत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का विरोध है, क्योंकि इस पदार्थ में दो विरुद्ध गुण नहीं रह सकते। अगले सूत्र में अनित्य पदार्थ के विकारी होने का खण्डन करेंगे।

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ।५४।

सूत्रार्थ—अनवस्थायित्वे=शब्द के अनवस्थित होने पर, च =भी, वर्णोपलब्धिवत्=वर्ण की उपलब्धि के समान, तद्विकारोपपत्तिः=वर्ण-विकार की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—शंब्द के अनवस्थित होने पर भी वर्णात्मक शब्द प्रत्यक्ष सुनाई देता है, उसी प्रकार विकार का उपलब्ध होना भी सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इस खण्डन का निराकरण करते हैं।

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ।५५।

सूत्रार्थ—विकारधर्मित्वे=विकार धर्मी न होने के कारण, नित्यत्वाभावात्=नित्यत्व के अभाव से, च=और, कालान्तरे =कालान्तर से, विकारोपपर्त्तेः=विकार की उपपत्ति मिलने अप्रतिषेधः=निषेध को युक्ति-सङ्गत मानना ठीक नहीं है।

व्याख्या—विकारी होने पर उसका नित्य होना नहीं कह सकते। क्योंकि धर्म की विभिन्नता एक ही प्रकार के पदार्थ में नहीं हो सकती, जैसे कि किसीको विकारी कहा और किसी को अविकारी कहा। यथार्थ में कोई भी नित्य पदार्थ में, कालान्तर में विकार आ सकता है, तो यह भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि जब 'इकार' को सुनतेहैं तो उसमें 'यकार' की ध्वनि सुनाई नहीं देती। अनित्य पदार्थ में भी इसी प्रकार विकार की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। क्योंकि विकार तो क्षण भर ठहर कर नष्ट हो जाता है। इसी की पुष्टि में एक अन्य हेतु अगले सूत्र में प्रस्तुत किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ।५६।

सूत्रार्थ–वर्ण विकाराणाम्=वर्ण विकारों की, प्रकृत्यनियमात् =प्रकृति का नियम न होने से विकार की मान्यता नहीं बनती।

व्याख्या—विकार को मानने में यह भी दोष आता है कि वर्ण विकारों में यकृति का नियम नहीं है जैसे युद्ध का विकार दही होने में दूध प्रकृति है और दही उसका विकार है। वैसे इकार का विकार यकार नहीं है। किन्तु 'विध्यति' आदि प्रयोगों में तो इकार यकृति हुई और उससे इकार रूप विकार बना। इस प्रकार वर्ण में प्रकृति और विकार का नियम न होने से शब्दों में विकार की मान्यता सिद्ध नहीं होती। अगले सूत्र में इस पर छलवाद से आक्षेप करते हैं।

अनियने नियमान्नाऽनियमः ।५७।

सूत्रार्थ–अनिमये=अनियम में, नियमात्=नियम. होने के कारण, अनियमः=अनियम, न=नहीं रहता।

व्याख्या—अनियम के नियम होने से अनियमतो रहा ही नहीं, फिर अनियम कहने से क्या लाभ ? अर्थात् वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम न होना नियमित हो गया तो यह भी नियम बन गया, इसलिये अनियम कहना युक्ति संगत सिद्ध नहीं होता। अब इसका उत्तर देते हैं।

नियमाऽनियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ।५८।

सूत्रार्थ–च=और, नियमाऽनियम=नियम और अनियम परस्पर, विरोधात्=विरोधी होने से, नियमात्=नियमहोने का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—नियम और अनियम परस्पर विरोधी हैं और जब यह नियमित हो गया कि वर्ण विकार में प्रकृति का नियम नहीं, अर्थात् जो नियम नहीं था, उसे नियम मान लिया गया तो अनियम कहना भी युक्ति सङ्गत नहीं है। इस प्रकार वर्ण विकार मानना ठीक ही है। यदि वर्णों में विकार न होता तो उनमें परिवर्तन क्यों होते हैं ? क्योंकि अविकारी पदार्थ में परिवर्तन होने का प्रश्न हीं नहीं उठता। इस पर सूत्रकार अपना मत अगले सूत्र में प्रकट करते हैं।

गुणान्तरापत्युमपर्दह्लासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ।५६।

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, गुणान्तरापति उपमर्द ह्लास वृद्धि-लेश-श्लेषेभ्यः=गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्लास वृद्धि, लेश और श्लेष से, विकारोपपत्तेः=विकार की उपपत्ति होने पर, वर्णविकारः =वर्ण में विकार का होना पाया जाता है।

व्याख्या—'तु' शब्द से उपर्युक्त का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वर्ण-प्रकृति से वर्ण अन्तर को विकार मानना तो उपर्युक्त युक्तियों से असिद्ध हो गया। परन्तु, गुणान्तर-आपत्ति, उपमर्द, ह्लास, वृद्धि, लेश और श्लेष से विकार की उपलब्धि होने से वर्ण विकार माना जा सकता है। गुणान्तरापत्ति का तात्पर्य उदात्त का अनुवाद हो जाना इत्यादि है। उपमर्द का तात्पर्य है अस् का भू और ब्रू का वच होना इत्यादि। ह्लास का तात्पर्य दीर्घ का ह्रस्व हो जाना और वृद्धि-ह्रस्व का दीर्घ होना, लेश में अस् के 'अ' का लोप होना इत्यादि तथा श्लेपइट् आदि से वर्णों में विकार का व्यवहार। इस प्रकार गुणान्तरापत्ति, उपमर्द आदि के होने से वर्ण विकार की मान्यता सिद्ध नहीं होती।

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ।६०।

सूत्रार्थ—विभक्तिःअन्ताः=विभक्ति के अन्त वाले, ते=वर्ण, पदम्=पद कहे जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—वर्णों के अन्त में विभक्ति लगाई जाने से उनको पद कहा जाता है। विभक्ति के दो प्रकार हैं— एक तो वह जो संज्ञा के साथ लगती है, दूसरी क्रिया के साथ लगती है। जैसे देवदत्त पकाता है, इसमें 'देवदत्त' संज्ञा और 'पकाता है' क्रिया हुई। इस प्रकार पद के अर्थ का बोध होता है। अब पदार्थ का निरूपण करेंगे।

तदर्थेव्यक्त्याकृतिजातिसन्निधाबुपचारात्संशयः ।६१।

सूत्रार्थ – व्यक्त्याकृति जातिसन्निधा=व्यक्ति, आकृति और जाति के, उपचारात्=उपचार से, तदर्थे=पदार्थ के विषय में, संशयः=शङ्का होती है।

व्याख्या—पद के अर्थ में व्यक्ति, आकृति और जाति के उपचार से सन्देह होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष से ग्रहण किये जाने वालेप्रत्येक पदार्थ में तीन बातें प्रत्यक्ष होती हैं, एक व्यक्ति दूसरी आकृति और तीसरी जाति। इनमें शङ्का होती है कि यह तीनों भिन्न-भिन्न हैं या एक एक ही हैं। जब हम किसी गौ को देखते हैं तो शरीर, रूप और जाति का बोध होता है। इसमें शरीर को गऊ कहें, या रूप को अथवा जाति को या तीनों को ही मिलकर गऊ कहना चाहिये? इसी बात को अगले सूत्र में और भी स्पष्ट कह कहते हैं।

या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासा-नुबन्धानां व्यक्तावुपचारात् व्यक्तिः ।६२।

सूत्रार्थ या=अथवा, शब्दसनूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्धिअपचय वर्णसमासानुबन्धानाम्=शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का व्यक्तिः=व्यक्ति विशेष के, उपचारात्=उपचार होने से, व्यक्तिः=व्यक्ति का ही पदार्थ होता सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—व्यक्ति ही एक पदार्थ है, क्योंकि शब्द समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण समास और अनुवन्ध का व्यवहार उसी में पाया जाता है । अब व्यक्ति को गौ मानकर उसका विवेचन करते हैं– शब्द गौ हैं समूह (बहुत सी) गऊयें त्याग से गौ दान करना, ग्रहण-गऊ का लेना, संख्या अर्थात् पांच या दस गौयें, वृद्धि-गौ मोटी हैं भार अधिक है, उपचय-दुर्बली-पतली, वर्ण-काली है श्वेत अथवा और किसी रङ्ग की समाज-गौ बैठती है, तथा अनुवन्ध-गौ का मुख आदि । इन सबका व्यवहार आकृति अथवा जाति में सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिए पद का अर्थ व्यक्ति ही हो सकता है । आकृति अथवा जाति को अमूर्त्त अथवा अपूर्ण मानना होगा और सभी क्रियायें मूर्त्त द्रव्य में हो सकती हैं । अब इसमें दोष दिखावेंगे–

न तदनवस्थानात् ।६३।

सूत्रार्थ—तदनवस्थानात्=व्यक्तियों की संख्या का नियम न होने से, न=उक्त हेतु युक्ति सङ्गत नहीं है ।

व्याख्या – अनवस्था दोष के पाये जाने से व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं इसलिए उपर्युक्त हेतु की मान्यता नहीं बनती । क्योंकि आकृति और जाति के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। मनुष्य जाति है ऐसा कहने में मनुष्यत्व और उसकी आकृति के साथ व्यक्ति का ग्रहण होता है यदि मनुष्य की आकृति और उसके मनुष्यत्व का अभाव हो तो मनुष्य रह ही नहीं सकता । इससे सिद्ध हुआ कि जाति ही पदार्थ है, व्यक्ति पदार्थ नहीं है । अब अगले सूत्र में शब्दादि का व्यवहार उपचार से होने का कथन करेंगे ।

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तु चन्दनगंगाशाटकान्न पुरुयेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ।६४।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूत्रार्थ--सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोग-साधनाधिपत्येभ्यः=सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग साधन और आधिपत्य के द्वारा, ब्राह्मणमञ्चकट-राजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटाकान्नपुरुषे=ब्राह्मण, मंच, कट, राज, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न और पुरुष यथाक्रम, अत-द्भावे=मद्रूप न होने से, अपि=भी, तदुपचारः=उपचारपूर्वक व्यवहृत होते है।

व्याख्या— अन्य शब्द से अन्य पदार्थ का ज्ञान लक्षण से होता है। इसलिए जाति में पदार्थ कामानना अनुपपत्ति नहीं। जैसे सहचर से व्यष्टि, व्यष्टि वाला ब्राह्मण-स्थान में मञ्च छे, मञ्च में स्थित पुरुष-तादर्थ्य में कट से कट को सूचित करने वाला तृण-वृत्त में यम के समान राजा-तोल में सेर-सेर भर सत्तू से उतने तोल के सत्तू-धारण से तुला में रखा हुआ चन्दन सामीप्य में गङ्गा से गङ्गातीर योग से काले रङ्ग से रङ्गा वस्त्र-साधन से अन्न से प्राण और आधिपत्य में कुल या गोत्र से उस कुल के प्रमुख पुरुष का ग्रहण होता है। ऐसे ही लक्षण से व्यक्ति में जाति सा उपचार होता है। इससे सिद्ध होता है कि गौ कहने से गऊपन का ग्रहण करना उचित है। अगले सूत्र में आकृति का ही पदार्थ होना कथन करेंगे।

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्वव्यवस्थानसिद्धेः ।६५।

सूत्रार्थ—सत्व व्यवस्थानसिद्धेः=जीवों में भेद होनेका ज्ञान, तदपेक्षत्वात्=आकृति की अपेक्षा से होने के कारण आकृतिः= आकृति को ही पदार्थ मानना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जब तक आकृति का ज्ञान नहीं है, तब तक यह गौ है यह भैंस है, यह घोड़ा है, यह सिंह है, इस प्रकार जीवों को अलग-अलग पहिचाना नहीं जा सकता। इसलिये पदार्थ आकृति ही है, जाति या व्यक्ति नहीं। आकृति और व्यक्ति का अन्तर कहते हैं कि आकृति गुण है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और व्यक्ति द्रव्य है। आकृति की समानता ही जाति का लक्षण है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिमें एक प्रकार की आकृति होती हैं, उसी के द्वारा व्यक्ति की जाति जैस गऊपन, आदि का ज्ञान होता है। इसलिए, आकृति को ही पदार्थ मानना ठीक है। अब जाति को पदार्थ मानने वाले का मत व्यक्त करते हैं।

व्यक्त्याकृति युक्तेप्यऽप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके- जातिः ।६३।

सूत्रार्थ--व्यक्त्याकृति युक्ते=व्यति और आकृति युक्त, अपि =हो, मृद्गवके=मिट्टी की गऊ के, प्रोक्षणादीनाम्=प्रोक्षण। आदिका अप्रसंगात्=प्रसङ्ग न होनेसे, जातिः=जाति पदार्थहै।

व्याख्या—मिट्टी की गऊ में आकृति भी हैं और व्यक्ति भी, परन्तु न तो वह दूध दे सकती हैं और न चल फिर सकती है। यदि केवल आकृति या व्यक्ति ही पदार्थ होता तो गऊ को इधर लाओ कहने से मिट्टी की गाय को भी लाया जा सकता था और उसी से दूध भी काढ़ा जाता। दान करने वाले मिट्टी की गऊ का ही दान कर सकते थे। इससे यही मानना ठीक है कि आकृति और व्यक्ति में पदार्थ भाव नहीं, बल्कि जाति ही पदार्थ है यह शङ्का करें कि आकृति और व्यक्ति का जाति से सम्बन्ध न मानने पर गऊ और बकरी में भेद कैसे करेंगे? तो इसका समाधान यह है कि आकृति और व्यक्ति तो प्रत्येक जीव में होती है, इसलिये आकृति व्यक्ति के द्वारा जाति का निर्णय नहीं होता। यह तो लक्षण या धर्म से हो सकता है। जिस पदार्थ में जिस जाति के लक्षण प्राप्त हों उसकी वह जाति होगी, अगले सूत्र में आकृति के पदार्थ होने के पक्ष में कहते हैं।

नाऽऽकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ।६७।

सूत्रार्थ—जात्यभिव्यक्तेः=जाति की अभिव्यक्ति, आकृति-व्यक्त्यपेक्षत्वात्=आकृति, व्यक्ति की अपेक्षा से होने से, न= उपयुक्त मान्यता युक्तिसङ्गत सिद्ध नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—आकृति और व्यक्ति के विना जाति का ज्ञान होना असम्भव है। क्योंकि जाति प्रकट होना आकृति और व्यक्ति पर ही आधारित है। जब हम किसी गऊ को देखते हैं तो उसकी आकृति और शरीर ही दिखाई देता है। जाति तो दिखाई देती नहीं। सभी लोग किसी गौ को देखकर यही कहते हैं कि यह गऊ है ऐसा नहीं कहेंगे कि यह गऊत्व है। इसलिए जाति कोई पदार्थ नहीं माना जाता। अब विचारणीय यह है कि आकृति को पदार्थ माना जाय अथवा व्यक्ति को क्योंकि, आकृति के अस्तित्व के लिये व्यक्ति का होना आवश्यकहै और व्यक्ति भी आकृति के विना नहीं रह सकता। यदि व्यक्ति मानें तो आकृति कहाँ जायेगी? क्योंकि आकृति के विना व्यक्ति की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आकृति ही पदार्थ है ऐसा मानना ठीक है। अगले सूत्र में सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं।

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ।६८।

सूत्रार्थ—व्यक्त्याकृतिजातयः=व्यक्ति, आकृति और जाति, तु=तीनों ही, पदार्थः=पदार्थ हैं।

व्याख्या—इस सूत्र में 'तु' पूर्व मतों का निषेध सूचक है। क्योंकि सूत्रकार का मत है कि व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों ही समान हैं और यह तीनों ही पदार्थ हैं। यह हो सकता है कि कहीं व्यक्ति की प्रधानता हो, कहीं आकृति की और कहीं जाति की हो, परन्तु इन तीनों में कोई भेद नहीं है। अगले सूत्र में व्यक्ति का लक्षण कहेंगे।

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयोमूर्त्तिः ।६९।

सूत्रार्थ—गुणविशेषाश्रयः=गुण विशेष के आश्रित होने से, मूर्तिः=मूर्ति ही, व्यक्तिः=व्यक्ति है।

व्याख्या—मूर्ति ही व्यक्ति है अर्थात् जो पदार्थ मूर्ति है उसी को व्यक्ति कहते हैं। जो गुरुत्व, कठिनत्व द्रवत्व आदि गुण विशेष युक्त द्रव्य संघात मूर्त होता है वह व्यक्ति है। आत्मा, काल, आकाश आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अमूर्त द्रव्य भी गुणाश्रय हैं, परन्तु इस सूत्र में मूर्ति कहने से मूर्त्त द्रव्यों का ही ग्रहण हो सकता है। अगले सूत्र में आकृति का लक्षण कहेंगे।

आकृतिर्जातिलिंगाख्या ।७०।

सूत्रार्थ—जातिलिङ्गाख्या=जाति के लक्षण को, आकृतिः= आकृति कहते हैं।

व्याख्या—आकृति उसे कहते हैं. जिससे जाति के लक्षण प्रकट होते हों। जैसे गौ की जाति देखकर गऊपन का ज्ञान होता है और वह गो की बनावट और स्वरूप अर्थात् चार पांव, पूँछ के अन्त में बाल, मुख के ऊपर सींग' गले के नीचे लटकती हुई चमड़ी आदि—इन लक्षणों से पहिचानी जाती है। इसी प्रकार सब जीवों की जाति का ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि जाति के जो लक्षण हैं, वही आकृति है। यदि जाति के लक्षण आकृति में न होते तो शेर को गऊ समझ लेते अथवा मनुष्य को भी गऊ कह दिया जाता। अब जाति का लक्षण कहते।

समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः ।७१।

सूत्रार्थ—समान प्रसवात्मिका=समान उत्पत्ति वाले बहुत से जीवों की एक रूपता को जातिः=जाति कहते हैं।

व्याख्या—जिन पदार्थों और जीवों में समता है और वह एक ही प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, उस समता को जाति कहते हैं। जैसे गऊ जैसी आकृति और उत्पत्ति वाले सभी पशु गौ जाति के कहे जाते हैं और मनुष्य की आकृति वाले सभी जीव मनुष्य जाति के माने जाते हैं। जिसमें आकृति और बनावट एक सी हो, वही अपने समान जीव या पदार्थ में मिलकर उसी जाति का कहा जायेगा। जातियां भी दो प्रकार की मानी गई हैं—सामान्य और विशेष। इनमें मनुष्य जाति सामान्य है और देश भेद से अथवा काले-गोरे के भेद से जाति की विशेषता कही जाती है।

।। द्वितीयोऽध्याये:-द्वितीयान्हिक समाप्तः ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीयोऽध्यायः-प्रथमाह्निकम्

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् ।१।

सूत्रार्थ—दर्शनस्पर्शनाभ्याम्=दर्शन और स्पर्श से, एकार्थ ग्रहणात्=एक पदार्थ का ग्रहण करने से, आत्मा का इन्द्रियों से, पृथक् होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—देखने और स्पर्श करने से एक पदार्थ का ग्रहण होता है, इसलिये आत्मा और इन्द्रियोंमें भेद होना प्रत्यक्ष है। जिस वस्तु को नेत्रों से देखते हैं उसी को हाथ से उठाते हैं अथवा स्पर्श करते हैं अथवा जिसे स्पर्श किया, उसे नेत्रों से देखते हैं, जिह्वा से स्वाद लेते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के कार्य का संचालन करने वाला आत्मा अलग ही है। यदि आत्मा अलग न होता तो जिसे देखते, उसे ही, उसी समय में स्पर्श नहीं कर पाते। क्योंकि अन्य के देखे हुए को अन्य स्पर्श नहीं कर सकता था। इससे सिद्ध होता है कि जो आत्मा नेत्र द्वारा देखता, त्वचा से स्पर्शकरता और जिह्वा से स्वाद लेता है, वह इन्द्रियों से अलग है। अगले सूत्र में इस पर शङ्का करते हैं—

न विषयव्यवस्थानात् ।२।

सूत्रार्थ—विषयव्यवस्थानात्=इन्द्रियों के विषय से ही, न उक्त कथन का ठीक होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—इन्द्रिय संघात के अतिरिक्त आत्मा कोई भिन्न पदार्थ है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। नेत्र के होने से रूप का ज्ञान होता है। नासिका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के द्वारा गन्ध का, जिह्वा के द्वारा रस का। अर्थात् जो इंद्रिय जिस कार्य के लिये नियत है, वही उस कार्य को कर सकती है। नासिका के द्वारा देखने का कार्य नहीं हो सकता और न नेत्र के द्वारा गन्ध का ज्ञान हो सकता है। यदि आत्मा का पृथक् अस्तित्व होता और उसके द्वारा इंद्रियों का संचालन होता तो वह नेत्र के द्वारा सूँघने का कार्य भी ले सकता था। परन्तु ऐसा होता कभी नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक इंद्रिय का अपने नियत विषय से सम्बन्ध होने से ही विषय का ज्ञान है और इस प्रकार किसी चेतन आत्मा के पृथक् अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अगले सूत्र में उक्त शङ्का का समाधान करते हैं।

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ।३।

सूत्रार्थ—तद्व्यवस्थानात्=विषयों के व्यवस्थान से, एव=ही आत्म सद्भावत्=आत्मा की सिद्धि होने पर, अप्रतिषेधः=इसका निषेध करना युक्ति सङ्गत नहीं है।

व्याख्या—विषयों के व्यस्थित होने से ही आत्मा की सिद्धि हो जाती है, इसलिये, उसका निषेध नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक इन्द्रिय सब विषयों का ज्ञान में स्वतन्त्र होती या सबके एक साथ मिलने से ही सब का ज्ञान हो जाता तब तो इन्द्रिय से भिन्न चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। परन्तु, इसके विपरीत प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषय का ही ज्ञान करती है और वह दूसरे विषय के ज्ञान में समर्थ नहीं होती, इसी से चेतन आत्मा कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा सिद्ध होता है। क्योंकि, इन्द्रियाँ तो आदेश प्राप्त नौकर के समान कार्य करती हैं। जो इनसे कार्य लेता है, वह तो चेतन आत्मा ही है। यह बात इसी से जानी जाती है कि 'यह मेरी आँख है' 'यह मेरा हाथ है' ऐसा सब कहते हैं, कोई यह नहीं कहता 'मैं आँख हूँ' 'मैं पाथ हूँ'। उससे भी यही बात सिद्ध होती है कि आत्मा ही ईन्द्रियों का स्वामी है, वही शरीर में रहकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी प्रत्येक क्रिया का सचालन करता है। यदि इन्द्रिय स्वयं ही क्रिया कर लेती है तो दस वर्ष पहिले देखे या सुने विषयों को आज भी याद नहीं रख पाते।

अगले सूत्र में देह को ही आत्मा मानने वालों के मत का समाधान करते हैं–

शरीरदाहे पातकाभावात् ।४।

सूत्रार्थ--शरीरदाहे=शरीर के जलाने से, पातक=पाप का, अभावात्=अभाव होने से आत्मा का पृथकत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—मृत देह को जो जलाने का कार्य किया जाता है, उसमें किसी प्रकार का पाप नहीं लगता यदि आत्मा शरीर से भिन्न न होती तो मरना भी सिद्ध नहीं होता और देह को जलाने में पाप होता। क्योंकि, जीवित को जलाना तो घोर दुष्कर्म और महान पातक है। यदि शरीर को ही आत्मा मानते हो तो उसके नाश होने पर पाप-पुण्य का भी नाश हो जाना चाहिए और पाप-पुण्य नष्ट हो गया तो फिर किसी को दुःख और किसी को सुख भी नहीं होगा। क्योंकि, पाप-पुण्य के बिना दुःख-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसमें दोष प्रसंग उपस्थित्त होगा। क्योंकि जिस शरीर ने पाप किये वह नष्ट हो गया तो उसे पाप का फल कैसे मिलेगा ? और जिस शरीर ने अभी पाप किया ही नहीं उसको अपराध किये विना ही दुःख की प्राप्ति क्यों होनी चाहिए ? परन्तु, बालकों को जन्म लेने के वाद दुःख भोगते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं, इनको एक नहीं कह सकते। अब, इस पर आक्षेप करेंगे।

तदभावः सात्मकप्राहेपि तन्नित्यत्वात् ।५।

सूत्रार्थ--तन्नित्यत्वात्=आत्मा के नित्य होने से सात्मक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रदाहे=जीवित एवं आत्मा सहित शरीर को जलाने पर, अपि =भी, तदभावः=किसी प्रकार का पाप नहीं होता।

व्याख्या--आत्मा नित्य है तो उसे जीवित जला देने पर कोई पाप नहीं हो सकता। क्योंकि, नित्य वस्तु तो नष्ट होगी नहीं जलेगा तो शरीर ही, फिर उससे आत्मा को क्या हानि हुई? यदि आत्मा को कोई हानि नहीं तो फिर पाप कैसा? यदि शरीर को आत्मा मानते हो और वह जब नष्ट हो जाता है, तब भी उसके जलाने में कोई पाप नहीं हो सकता। देह को आत्मा मानें तो हिंसा का कोई फल नहीं होता और आत्मा को देह से अलग मानें तो भी हिंसा का न होना सिद्ध होता है। इस प्रकार दोनों दशाओं में ही पाप नहीं हो सकता। अब इस पर सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं—

न कार्याश्रय कर्त्तृ वधात्।६।

सूत्रार्थ—कार्याश्रयकर्त्तृ वधात्=शरीर और इन्द्रियों के उपघात को हिंसा कहने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—आत्मा का नाश हिंसा नहीं, क्योंकि आत्मा नित्य है, वह जिस शरीर और इन्द्रियों के साथ रहता है, उस शरीर तथा इन्द्रियों का उपघात ही हिंसा है। उस शरीर को जलाने वाला पापी कहा जाता है। पर आत्मा के निकल जाने पर जलाने से उसका दोष नहीं होता। क्योंकि, आत्मा शरीर से अलग है, वह उसमें निवास करता हुआ सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है। शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होता। यदि आत्मा के सहित अर्थात् जीवित शरीर को जलाया जाय, तो हिंसा होगी परन्तु आत्मा के निकल जाने पर शरीर को जलाया जाना, हिंसा नहीं कहा जा सकता। यदि कहें कि आत्मा नित्य है, उसके होने पर शरीर को जलाने में हिंसा क्यों माननी चाहिए? तो इसका समाधान यह है कि जब तक आत्मा शरीर में रहता है तब तक, वह शरीर के द्वारा सुख दुःख का अनुभव करता है। शरीर को कष्ट होता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो आत्मा उसकी पीड़ा का अनुभव करता है और शरीर को सुख मिलता है तो आत्मा को भी उसकी अनुभूति होती है। इस प्रकार आत्मा सहित शरीर के जलाये जाने से आत्मा को पीड़ा की अनुभूति होती है, और किसी आत्मा को दुःख देना ही पाप है। आत्मा जिस शरीर में रहता है, उस शरीर को अहंकार के कारण अपना समझता है, इसलिए उस शरीर से आत्मा का अनुराग हो जाता है और उसे छोड़ने में वह कष्ट का अनुभव करता है। इसलिए भी आत्मा को शरीर से अलग करने वाला कार्य हिंसा और पाप है। इसके ही पक्ष में एक युक्ति अगले सूत्र में और देते हैं—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ।७।

सूत्रार्थ—सव्यदृष्टस्य=एक नेत्र से देखे हुए पदार्थ का इतरेण =दूसरे नेत्र से, प्रत्यभिज्ञानात्=प्रत्यभिज्ञान होने से आत्मा का देह से भिन्न होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिसे बाँये नेत्र से देखा हो उसका दाँये नेत्र से प्रत्यभिज्ञान होता है इससे भी आत्मा का शरीर से अलग होना सिद्ध होता है। पूर्वापर ज्ञान के योग को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे, यह वही ग्रन्थ है जिसे मैंने आगरा में देखा था। अब किसी वस्तु को पहिले बाँये नेत्र से देखा हो, अब उसे दाँये नेत्र से देखकर यह जान लें कि यही वस्तु है जिसे पहिले मैंने बाँये नेत्र से देखा था इसी को प्रत्यभिज्ञान समझिये। यदि आत्मा शरीर से अलग न हो तो प्रत्यभिज्ञान कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, एक के देखने की दूसरे को याद नहीं हो सकती है।

अगले सूत्र में इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ।८।

सूत्रार्थ—नासास्थि व्यवहिते=नासिका की हड्डी से किये, एकस्मिन्=एक ही नेत्र-इन्द्रिय में, द्वित्वाभिमानात्=दो का अभिमान होने से, न=उपर्युक्त कथन ठीक नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या - नेत्र इन्द्रिय एक ही है, परन्तु नासिका की हड्डी बीच में आ जाने से उसके दो होने का भ्रम हो गया है। जैसे किसी नदी पर पुल बाँधने से दो नदियाँ नहीं हो सकती, वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय भी एक ही है। इसलिए ऊपर के सूत्र में एक नेत्र से देखने को प्रत्यभिज्ञान कहा है, यह युक्तिसंगत नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर के पृथकत्व में यह प्रमाण ठीक नहीं है।

अब, इस पर आक्षेप करते हैं—

एक विनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ।९।

सूत्रार्थ – एक विनाशे=एक के नष्ट होने पर, द्वितीय अविनाशात्=दूसरे का नाश न होने पर, एकत्वम्=नेत्रों का एक होना, न=किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि नेत्र इन्द्रिय एक होती तो सव्य या असव्य अर्थात् बाँये या दाँये, किसी नेत्र के नष्ट होने पर दोनों की ही नष्ट हुआ मान लिया जाता और एक के नष्ट होने पर दूसरे से भी दिखाई नहीं देता। परन्तु ऐसा होता नहीं। एक नेत्र के मारे जाने पर भी दूसरे नेत्र से दिखाई देता है। इसलिए नेत्रों का एकत्व सिद्ध नहीं होता।

अब, वादी पुनः आक्षेप करता है—

अवयवनाशेप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ।१०।

सूत्रार्थ=अवयवनाशे=शरीर के किसी एक अंग के नष्ट होने पर, अपि=भी, अवयव्युपलब्धेः=अवयवी की उपलब्धि होतो है इसलिए, अहेतुः=उक्त हेतु मान्य नहीं।

व्याख्या –नेत्रेन्द्रिय को दो बताने में एक के फूट जाते पर दूसरे से दिखाई देने का जो हेतु दिया गया, वह उपयुक्त नही है। क्योंकि शरीर के किसी एक भाग के नष्ट होने पर पूरे शरीर का नाश नहीं हो जाता। एक अंग नहीं रहता है तो भी दूसरे अंग कार्य करते रहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिए चक्षुरिन्द्रिय एक ही है उसके एक भाग के नष्ट होने पर दूसरे से दिखाई देने के कारण दो नहीं कह सकते। क्योंकि, एक अवयव के नष्ट होने से अवयवी का ही नष्ट हो जाना सिद्ध नहीं होता।

उक्त विरोध का अगले सूत्र में समाधान करते हैं—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ।११।

सूत्रार्थ—दृष्टान्त विरोधात्=दृष्टान्त का विरोध होने से अप्रतिषेधः=उक्त विरोध मान्य नहीं होता।

व्याख्या—उक्त दृष्टान्त मान्य नहीं है। क्योंकि वृक्ष को अवयवी मानें तो शाखायें उनके अवयव होंगे। परन्तु, एक शाखा दूसरी शाखा का अवयव नहीं हो सकती। इस प्रकार, एक नेत्र दूसरे नेत्र का अवयव नही होगा, वह तो किसी अवयवी अर्थात् शरीर का ही अवयव हो सकता है। यदि नेत्र-इन्द्रिय एक ही होती तो एक नेत्र में लाली होने से दूसरे नेत्र में भी लाली हो जाती। परन्तु ऐसा न होने से नेत्रों का दो होना ही सिद्ध होता है। यदि नासिका की हड्डी को अलग करके देखें तो भी नेत्रों के दो गोलक अलग-अलग दिखाई देंगे। इससे भी नेत्रों का दो होना ही सिद्ध है। जब नेत्रों का दो होना सिद्ध हो गया तो एक के द्वारा देखी गई वस्तु का दूसरे से प्रत्यभिज्ञान होना ही सिद्ध हो गया और प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि से शरीर और आत्मा का पृथक भी सिद्ध हो जाता है।

इसकी पुष्टि में अन्य हेतु देते हैं—

इन्द्रियान्तरविकारात् ।१२।

सूत्रार्थ—इन्द्रियान्तर विकारात्=एक इन्द्रिय के विषय को देखकर दूसरी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाने से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर में पृथकत्व है।

व्याख्या—किसी एक इन्द्रिय के अपने विषय को ग्रहण करने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य इन्द्रियों में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे गुलाब के पुष्प को नेत्र से देखने पर नासिका उसे सूँघने की इच्छा करती है, और किसी बढ़िया मिठाई को देखने पर मुख में पानी भर आता है और जिह्वा उसका आस्वादन करने के लिए लालायित हो उठती है। यदि इन्द्रियों को अपने अपने विषय में स्वतन्त्र मान लें तो एक इन्द्रिय के कार्य से दूसरी इन्द्रिय में विकार नहीं होना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ आत्मा के अधीन हैं और उसी की प्रेरणा से अपने विषय को ग्रहण करती है।

इसकी असिद्धि में वादी पुनः आक्षेप करता है—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ।१३।

सूत्रार्थ—स्मृतिः स्मर्त्तव्य विषयत्वात्=पूर्व अनुभव किये पदार्थ के स्मरण का विषय होने से, न=उक्त कथन मान्य नही है।

व्याख्या—बीती हुई बात को याद करना स्मृति का विषय है। क्योंकि, याद रखने योग्य सभी विषय स्मृति के अन्तर्गत ही है। जिस इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय का ज्ञान हुआ है, उस विषय का स्मरण उसी इन्द्रिय के द्वारा हो, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जिस वस्तु को पहिले देख चुके हैं, उसी की याद आ सकती है। न देखे हुए विषय की याद ही कैसे आयेगी ? और प्रत्यक्ष विषय को याद करना स्मृति का कार्य है, आत्मा का नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर से भिन्न किसी आत्मा का अस्तित्व नहीं होता।

अब उक्त शंका का समाधान करते हैं--

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ।१४।

सूत्रार्थ तदात्मगुण सद्भावात्=स्मृति के आत्मा को गुण होने से, अप्रतिषेधः=निषेध की सिद्धि नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—स्मृति किसी इन्द्रिय का गुण नहीं, आत्मा का गुण है। यदि इन्द्रिय का गुण होता तो एक के द्वारा अनुभव किया हुआ विषय दूसरी इन्द्रिय के द्वारा अनुभव न किया जाता। यदि स्मृति को इन्द्रिय का विषय मानने लगें तो मरे हुए शरीर में स्मृति उत्पन्न क्यों नहीं होती? उसमें केवल आत्मा ही तो नहीं होता, इन्द्रिय और स्मर्त्तव्य विषय तो मौजूद रहते ही है। इसी से सिद्ध होता है कि स्मृति इन्द्रियों का विषय नहीं है आत्मा का ही विषय हैं। क्योंकि, आत्मा के बिना, स्मृति हो ही नहीं सकती।

अगले सूत्र में इसका अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ।१५।

सूत्रार्थ - च=तथा, स्मृति विषयस्य=स्मृति के विषय में, अपरिसंख्यानात्=अनेक विषयों का ज्ञान होने से भी उपर्युक्त मान्यता ठीक समझनी चाहिये।

व्याख्या—स्मृति का विषय बड़ा गहन है। "मैंने इस अर्थ को जाना मुझसे यह अर्थ जाना गया, मुझे इस अर्थ का ज्ञान हुआ, मैं इस अर्थ का जानने वाला हूँ"—यह चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है। स्मृति का मूल इसी ज्ञान को समझना चाहिए। चारों प्रकार की स्मृति में सभी स्थानों पर ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञाता और जानने योग्य दोनों से होगा। बिना ज्ञाता के यह ज्ञान नहीं रह सकता तथा इसका सम्बन्ध अनेक ज्ञाताओं से भी नहीं है। "मैंने इस विषय को 'जाना' मैं इस विषय को जानता हुँ अथवा मैं इस विषय को जानूँगा"—यह त्रिकालज्ञ ज्ञान है। इसका प्रतिसन्धान यदि ज्ञाता न हो तो कैसे होगा? जिसको मैंने पहिले देखा था, अब उसी को देख रहा हूँ। इससे देखना, ज्ञान और प्रत्यय तीनों मिले हुए हैं। इस प्रकार एक ही अर्थ तीनों प्रकार के ज्ञानों से युक्त होकर अकर्तृक अथवा अनेक कर्तृक नहीं होता बल्कि एक कर्तृक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि, एक ही सब विषयों का जानने वाला अपने सभी ज्ञानों का प्रतिसंधान करता है। मैंने इसे जाना, मैं इसे जानता हूँ, मैं इसे जानूँगा"—आदि त्रिकालज्ञ ज्ञान को संस्कारों का फैलाव मात्र ही मानें तो पहिले तो संस्कार उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं और दूसरे, कोई भी ऐसा संस्कार नहीं है जो त्रिकालज्ञ ज्ञान को अपने में धारण कर सके। ज्ञाता न हो तो 'मैं और मेरा' का ज्ञान और स्मृति का परिसंघात उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि विषयों के आत्मा के आश्रित होने से ज्ञान का कारण इन्द्रिय जन्य स्मृति नहीं हो सकती। इस पर पूर्वपक्ष पुनः आक्षेप करता है।

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनाँ मनसि सम्भवात् ।१६।

सूत्रार्थ—आत्मप्रतिपत्ति हेतूनाम्=आत्मा के साधक हेतु के, मनसि=मन में, सम्भवात्=सम्भव होने से, न=किसी अन्य आत्मा का होना सिद्ध नहीं हो पाता।

व्याख्या—आत्मा की सिद्धि करने वाले हेतु मन में हैं, इससे किसी अन्य को आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह है कि आत्मा को सिद्ध करने वाले जो लक्षण हैं वे लक्षण मन में मिलते हैं तो फिर आत्मा को अलग क्यों माना जाय? जैसे देखना, स्पर्श करना आदि ज्ञान आत्मा के पक्ष में कहा है, वह ज्ञान मन में भी होता है, क्योंकि मन सभी विषयों का अनुभव करने वाला है। इसलिये आत्मा को अलग नहीं मानना चाहिए। अगले सूत्र में इस आक्षेप का समाधान करेंगे।

ज्ञातुर्ज्ञान साधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ।१७।

सूत्रार्थ—ज्ञान साधनोपपत्तेः=ज्ञान के साधन की उपपत्ति होने से, ज्ञातुः=ज्ञाता का, संज्ञाभेदमात्रम्=केवल नाम का भेद ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या - ज्ञाता के ज्ञान-साधन की उपलब्धि होने से नाम मात्र का भेद है क्योंकि प्रत्येक कारण कर्त्ता की सहायता के लिए होता है, यदि कर्त्ता न हो तो कार्य और कारण मिलकर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के जितने साधन हैं, वे सभी ज्ञाता की सहायता के लिए हैं, जैसे नासिका से सूँघना, नेत्र से देखना, त्वचा से स्पर्श करना, मन से मनन करना आदि। सभी इन्द्रियाँ साधन मात्र हैं और नेत्र आदि की तरह मन भी ज्ञान का एक साधन है। यदि मन को ही चेतना मान लें और कारण न मानें तो भी मन और आत्मा में केवल संज्ञा का भेद होना ही कहा जायगा क्योंकि, जिसे मन कहा है, और उसके लक्षण आत्मा जैसे कहे हैं, इसलिए मन को ही आत्मा मान लें, तो आत्मा के शरीर आदि संघात से पृथक होने के सिद्धान्त में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

अगले सूत्र में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नियमश्च निरनुमानः ।१८।

सूत्रार्थ—च=तथा, नियमः=उस नियम के पक्ष में, निरनुमानः=कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

व्याख्या—यह कहना कि रूप आदि को ग्रहण करने के साधन नेत्र आदि इन्द्रिय तो हैं, परन्तु सुख-दुःख को अनुभव करने वाले मन या अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। यह किसी कारण के बिना ही उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसा नियम बताना किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता यह तो सभी मानते हैं कि रूप आदि से सुख आदि विषय भिन्न हैं और उनका ज्ञान होने के लिए कोई कारण होना चाहिए। जैसे गन्धज्ञान नासिका से ही हो सकता अथवा रस का ज्ञान जिह्वा से ही हो सकेगा, नेत्र, नासिका से कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियाँ सुख-दुःख का ज्ञान, करने में समर्थ नहीं, तब उसे अन्तःकरण या मन की आवश्यकता होगी ही। सभी इन्द्रियाँ मन से सम्बन्ध रखती

Dr. Ramdev Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं, इसीलिए सब विषयों का ज्ञान एक साथ नहीं होता । क्योंकि मन का जब, जिस इन्द्रिय से संयोग होता है, तब उस इन्द्रिय के विषय का ही ज्ञान होता है । इसलिए आत्मा को सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिये हैं वे मन पर घटित नहीं होते ।

अगले सूत्र में आत्मा का नित्य होना सिद्ध करते हैं—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः ।१९।

सूत्रार्थ--पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्=पूर्व जन्म के अभ्यास से, पदार्थ की स्मृति के अनुबन्धन से, जातस्य=उत्पन्न हुए बालक में,हर्ष भय शोक सम्प्रतिपत्तेः=हर्ष भय और शोक के पाये जाने से आत्मा का नित्य होना ही सिद्ध होता है ।

व्याख्या - तत्काल उत्पन्न हुए बालक में भी हर्ष, भय, शोक का होना मिलता है उसका कारण पूर्व जन्म का संस्कार ही होता है । यदि उसे पूर्व जन्म का हर्ष भय शोक आदि का अनुभव न होता तो वह हर्ष शोक आदि से प्रभावित न हो पाता । क्योंकि किसी वस्तु को पहिले देखे बिना उसकी स्मृति नहीं हो सकती । जब, पहिले उसे हर्ष शोक भय आदि का सामना करना पड़ा होगा, तभी उस पर इनका प्रभाव पड़ा । इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है । यदि कहें कि आत्मा शरीर के साथ उत्पन्न हुआ है तो ऐसा नहीं कह सकते । यदि शरीर के साथ उत्पन्न हुआ होता तो हर्ष, भय, शोक की अनुभूति उसे नहीं हो सकती थी । यदि कहो कि शरीर की उत्पत्ति से पहले हुआ तो उसका उपादान कारण न होने से,इस बात की सिद्धि नहीं होती । इस-लिए आत्मा अनादि है और जो पदार्थ अनादि है, वह अनित्य नहीं हो सकता ।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ।२०।

सूत्रार्थ–पद्मादिषु=कमल आदि में,प्रबोध सम्मीलन विकारवत्=नेत्र खुलने, मिचने के समान, तद्विकारः=बालक को हर्ष, भय और शोक आदि विकार होते हैं।

व्याख्या—जैसे कमल आदि में खुलना और बन्द होना आदि विकार स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं, वैसे ही हाल के उत्पन्न हुए बालक में, हर्ष, भय, शोक आदि विकार स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होते है। इस स्थिति को पूर्व जन्म के संस्कार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है यदि आत्मा को भय, शोक आदि के कारण ही नित्य मानलें तो कमल आदि को भी स्वयं खुलने या बन्द होने के कारण नित्य क्यों नहीं मान लेते? इससे सिद्ध हुआ कि हर्ष भय आदि स्वाभाविक विकार होने से आत्मा का नित्य होना नहीं बनता।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे—

नोष्ण शीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ।२१।

सूत्रार्थ—पंचात्मक विकाराणाम्=पंच भौतिक कमल आदि से विकार, उष्णशीतवर्षाकाल निमित्तत्वात्=गर्मी, शीत, वर्षा आदि के निमित्त से हैं, यह कहना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—कमल के पुष्प की आत्मा से समता करनी ठीक नहीं है। क्योंकि, कमल के पुष्प आदि पंच भूतों के विकार हैं और यह विकार गर्मी, ठन्ड और वर्षा आदि ऋतुओं के कारण होते हैं। परन्तु आत्मा पंच भौतिक नहीं है, इसलिये ऋतुओं का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता। कमल के पुष्प में भी खुलना, बन्द होना आदि विकार सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के प्रभाव से ही होता है और आत्मा को हर्ष शोक,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भय आदि का होना पूर्व जन्म के अभ्यास का संस्कार ही है। जैसे कमल पुष्प का खुलना मुंदना आदि गर्मी आदि के बिना नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा में हर्षशोकादि आदि संस्कार के बिना सम्भव नहीं है,। यदि ऐसा नहीं है तो हाल के उत्पन्न बालकों को हर्ष, भय, शोक आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हर्ष, भय, शोक आदि के ग्रहण करने वाली कोई इन्द्रिय भी माननी होगी। वह इन्द्रिय मन ही हो सकता है, परन्तु मन में एक साथ अनेक ज्ञान प्रकट नहीं हो सकते। जिस इन्द्रिय के साथ, जिस विषय का संयोग होता है, उसी विषय को वह इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है और वह भी तब, जबकि मन का उस इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। बिना संयोग के ज्ञान हो ही नहीं सकता। यह बात सूत्र १९ में भी समझा चुके हैं। इन सबसे सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है।

अगले सूत्र में इसका अन्य हेतु भी देते हैं—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ।२२।

सूत्रार्थ—प्रेत्य=पुनर्जन्म, आहाराभ्यासकृतात्=आहार के, अभ्यास से स्तन्याभिलाषात्=स्तनपान की इच्छा का होना भी आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

व्याख्या—मरने के बाद जब आत्मा दूसरा देह धारण करता है, तब वह किसी की प्रेरणा या शिक्षा के बिना ही स्तन से दूध पीने लगता है। इसका कारण पूर्वजन्म का. भोजन का अभ्यास ही है। यदि पूर्व जन्म का अभ्यास न होता तो दुग्ध-पान में उसकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती थी। इससे यही मानना ठीक है कि आत्मा ने पहिले भी शरीर धारण किया था। उसे वहाँ भोजन का अभ्यास था और जब वह उस देह में आता, भूख से पीड़ित होने के कारण और पूर्व जन्म के भोजन ग्रहण करने वाले अभ्यास को स्मरण कर स्तन-पान करने लगा। इससे सिद्ध होता है कि देह के नष्ट होने से आत्मा का भी नाश नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में इस पर पुनः शंका करते हैं—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ।२३।

सूत्रार्थ—अयसः अयस्कान्ताभिगमनवत्=लोहे के चुम्बक की ओर खिचने के समान, तदुपसर्पणम्=बालक द्वारा स्तन पान करने का अभ्यास स्वाभाविक ही है।

व्याख्या—जैसे लोहा चुम्बक की ओर स्वाभाविक रूप से खिचता है, वैसे ही बालक पूर्व जन्म के आहार-अभ्यास से नहीं, स्वाभाविक रूप से ही दुग्ध-पान में प्रवृत्त होता है। यदि, स्वाभाविक न होता तो स्तन पीने की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती थी। इसी से सिद्ध है कि पूर्व अभ्यास से स्तन-पान की प्रवृत्ति होने का हेतु अयुक्त है।

अब इसका समाधान करेंगे—

नान्यत्र प्रवृत्त्याभावात् ।२४।

सूत्रार्थ—अन्यत्र=अन्य विषयों में, प्रवृत्त्य-भावात्=प्रवृत्ति न होने से, न=उपर्युक्त मान्यता नहीं बनती।

व्याख्या—बालक की प्रवृत्ति केवल दुग्ध पान में ही है, अन्य किसी वस्तु में नहीं है। अर्थात् बालक दूध पीने की इच्छा करता है और किसी वस्तु की नहीं।' इसलिए दूध पीने को स्वाभाविक वृत्ति नहीं कह सकते। ऊपर लोहे और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया है वह भी अयुक्त है। क्योंकि लोहा चुम्बक की ओर निमित्त से खिचता है। यदि निमित्त न होता तो मिट्टी या पत्थर आदि भी चुम्बक के पास खिचे चले जाते अथवा लोहा ही मिट्टी-पत्थर आदि के पास खिच आता। इसमें विचारणीय यह है कि चुम्बक लोहे को ही अपने पास क्यों खींचता है अन्य किसी धातु को क्यों नहीं खींचता? दूसरे, लोहा भी चुम्बक के पास ही क्यों जाता है, दूसरे के पास क्यों नहीं जाता? इससे सिद्ध होता है कि चुम्बक के पास लोहे का खिचना सकारण होता है। इसी प्रकार बालक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की स्तन-पान में प्रवृत्ति भी सकारण ही है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पहिले किये भोजन के अभ्यास की स्मृति से भोजन में प्रवृत्ति होती है और इसी से सिद्ध है कि आत्मा नित्य है।

इसकी पुष्टि में अन्य हेतु उपस्थित करते हैं—

वीतरागजन्मादर्शनात् ।२५।

सूत्रार्थ—वीतराग=विरक्त पुरुष का, जन्म-अदर्शनात्= जन्म होना दिखाई न पड़ने से भी यही मान्यता होती है।

व्याख्या—आत्मा के नित्य होने में एक प्रमाण यह भी है कि विषयों मे रत प्राणी ही जन्म लेता है। जिसने विषयों का त्याग कर दिया अर्थात् वीतराग हो गया, उसका जन्म ही नहीं होता। राग अर्थात् विषय ही जन्म-मरण का कारण है और राग की अनुभूति तभी हो सकती है, जबकि आत्मा ने किसी शरीर में रहकर उसका अनुभव प्राप्त कर लिता हो। पूर्व जन्म में अनुभव किये विषय को स्मरण करने से राग होता है, ओर जन्म-मरण इसी से होता है। जो, ज्ञानी पुरुष तत्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास करते हैं, तब उनकी वासनाएँ नष्ट होने लगती हैं। जब वासनाओं का समूल नाश हो जाता है, तब कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव हो जाता है,अर्थात् रागादि नहीं रहते तो जन्म-मरण का सम्बन्ध भी नहीं रहता। जब जन्म-मरण समाप्त हुआ तो मुक्तावस्था हो गई। इस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था सिद्ध होने से उनका नियत्व भी सिद्ध होता है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ।२६।

सूत्रार्थ—सगुण द्रव्योत्पत्तिवत्=गुण वाले द्रव्य के उत्पन्न होने के समान, तदुत्पत्तिः=राग वाले आत्मा के उत्पन्न होने से आत्मा का अनादित्व और नियत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जैसे सगुण द्रव्य उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा की उत्पत्ति होना क्यों न मान लें। जैसे उत्पत्ति धर्म वाले घड़ा आदि द्रव्यों के रूप आदि गुण, द्रव्य के उत्पन्न होने के साथ, स्वयं ही उत्पन्न हो जाते है, वैसे ही उत्पन्न होने वाले आत्मा में भी राग स्वयं उत्पन्न होगा। इस प्रकार राग का आत्मा के साथ उत्पन्न होना सिद्ध होता है, तो पूर्वजन्म की स्मृति से राग का होना मानने में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त दृष्टान्त से पूर्वजन्म की सिद्ध नहीं होती, इसलिए आत्मा का नित्य होना भी सिद्ध नहीं होता।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ।२७।

सूत्रार्थ -रागादीनाम्=राग आदि के, संकल्पनिमित्तत्वात्=संकल्प निमित्त होने से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं है

व्याख्या - राग आदि संकल्प से उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति सगुण द्रव्य के समान नहीं हो सकती। घट आदि कार्यों में रूप आदि गुणों का रहना समवाय सम्बन्ध से है। परन्तु आत्मा में राग की प्रवृत्ति सदा नहीं रहती, पूर्व अनुभव के सस्कार या स्मृति से मन में जब किसी संकल्प की उत्पत्ति होती है, तभी राग आदि होते हैं। यदि आत्मा की उत्पत्ति के कारण, राग की उत्पत्ति होती तो सङ्कल्प से भिन्न, रागादि का कोई अन्य कारण होता। परन्तु सङ्कल्प के अतिरिक्त अन्य कोई कारण राग आदि के उत्पन्न होने का नहीं है। इसलिए रागादि की उत्पत्ति सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान नहीं मान सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग होता है और आत्मा नित्य है। इस प्रकार, आत्मा की परीक्षा समाप्त हुई, अब शरीर की परीक्षा आरम्भ करेंगे।

अगले सूत्र में शरीर के मुख्य उपादान के सम्बन्ध में कहेंगे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ।२८।

सूत्रार्थ---गुणान्तरोपलब्धेः=गुणान्तर की उपलब्धि से पार्थिवम्=मनुष्य का देह पार्थिव होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—सभी का कहना है कि शरीर भौतिक है, परन्तु पाँचों भूतों में से किस भूत से बना है, इसका समाधान करते हैं कि, वैसे तो देह पञ्चभूतात्मक हैं, परन्तु पृथिवी तत्व इसमें विशेष रूप से हैं। इसलिये पृथिवी को विशेष उपादान मानना चाहिये। जल, तेज, वायु और आकाश इसके निमित्त कारण हैं, वे इसके उपादान कारण नहीं हो सकते। क्योंकि जल आदि के गुण द्रवत्व आदि देह में बहुत कम पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष रूप से तो पृथिवी के गुण गन्ध और काठिन्य आदि ही मिलते हैं। इसलिए शरीर को पार्थिव मानना ही ठीक है।

अगले सूत्र में अन्य मत उपस्थित करते हैं—

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ।२९।

सूत्रार्थ—तद्गुणोपलब्धेः=गन्ध, स्नेह और उष्ण इन गुणों की उपलब्धि से, शरीरों का, पार्थिवाप्यतैजसम्=पार्थिव, आप्य और तैजस होना प्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

व्याख्या—शरीर में पृथिवी का गुण गन्ध पाया जाता है, इसलिये पार्थिव, जल का गुण स्नेह अर्थात् चिकनाहट होने से आप्य और स्पर्श करने से गर्मी मालुम होने से तैजस। इस प्रकार त्रिभौतिक अर्थात् पृथिवी, जल, और तेज के योग से बना सिद्ध होता है। अब, इससे भी एक संशोधित मत कहेंगे--

निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ।३०।

सूत्रार्थ—निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेः=गन्ध आदि तीनों गुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और श्वास-प्रवास रूप प्राणवायु की उपलब्धि होने से यह देह चातुर्भौतिकम्=चार भूतों से बना है।

व्याख्या – शरीर में गन्ध, स्नेह, उष्णता यह तीन गुण तो मिलते ही है, इसके साथ ही श्वास-उच्छ्‌वास आदि की उपलब्धि भी होती है। अर्थात् शरीरों को श्वास लेते और श्वास छोड़ते भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर त्रय भौतिक नहीं, किन्तु चातुर्भौतिक है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, तेज, और वायु चारों तत्वों के गुण शरीर में पाये जाते हैं। अब, पाञ्चभौतिक बताने वालों का मत देते हैं—

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः
पाञ्चभौतिकम् ।३१।

सूत्रार्थ—गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः=गन्धः, द्रव्य, पाक, तेज, संयोग, व्यूह और अवकाश के होने से, पाञ्चभौतिकम्=शरीर का पाञ्चभौतिक होना सिद्ध है।

व्याख्या—शरीर में तीन या चार तत्वों का मिश्रण ही नहीं पाया जाता, किन्तु पञ्च के सयोग से बना हुआ ही सिद्ध होता है। उसमें गन्ध, पतलापन, पाक, उष्णता, श्वास-प्रश्वास आदि के साथ अवकाश भी पाया जाता है अवकाश आकाश का गुण है और उसकी उपलब्धि होनेसे शरीर का पाञ्चभौतिक होना ही सिद्ध होता है। अब शङ्का करते है कि शरीर पार्थिव होने में क्या प्रमाण है ?

श्रुतिप्रामाण्याच्च ।३२।

सूत्रार्थ—श्रुति प्रमाण्यात्—श्रुति के प्रमाण से, च=और शरीर का पार्थिव होना सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—'सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छताम' पृथिवी ते शरीरम्' इस प्रकार श्रुति में कहा गया है। मरने पर उक्ति है कि 'तेरे चक्षु सूर्य में चले जाँय' 'तेरी देह पृथिवी में मिल जाय' सांख्यमत में 'नाशः कारणलयः' कह कर कार्य का अपने कारण में लीन हो जाने को नाश कहा है। इसलिए यदि शरीर पृथिवी का कार्य है तो पृथिवी में ही मिलेगा। यजुर्वेद में 'भस्मान्त शरीरम्' कहकर शरीर के भस्म होने की जो बात कहीं है, वह भी शरीर के पार्थिव होने को ही सिद्ध करती।

अगले सूत्र में इंद्रियों का विचार करेंगे—

कृष्णसारे सत्युपलम्भात् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ।३३।

सूत्रार्थ–कृष्णसारे=नेत्र की पुतली के, सति होने पर, उपलम्भात्=विषय की प्राप्ति से, च=एवम्, व्यतिरिच्य=विषय प्राप्त होकर नेत्र से प्राप्त होने से, संशयः=इन्द्रियों के भौतिक होने के सम्बन्ध में शङ्का होती है।

व्याख्या—समस्त रूपों की उपलब्धि नेत्र की पुतली से ही होती है। इसलिए नेत्र गोलक ही सब कुछ है। यदि नेत्र की पुतली न हो तो विषयों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके सिवाय भी विषयों की उपलब्धि होने से इन्द्रियों के भौतिक या अभौतिक होने की शङ्का होती है। तात्पर्य यह है कि आँख में काले रङ्ग की जो पुतली है, वही रूप को ग्रहण करती है। यदि पुतली होगी तो रूप दिखाई देगा। अन्यथा नहीं दिखाई देगा और वह पुतली भौतिक है, इसलिए आंख भी भौतिक ही समझनी चाहिए। परन्तु, एक पक्ष और है जो इसके विपरीत कहता है। अर्थात् नेत्र की पुतली रूपों को तभी ग्रहण करेगी जब वे कुछ दूर पर होंगे, यदि कोई वस्तु पुतली से मिला दी जाय' तो उसे कुछ भी दिखाई न देगा। 'इससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्ध होता है कि पुतली नेत्र के अन्दर रहती है परन्ते जब वृत्ति बाहर निकलकर विषय में तदाकार हो जाती हैं, तब रूप का ग्रहण होता। वह वृत्ति नेत्र की पुतली से भिन्न वस्तु है ! इसके यह समझा जाता है कि इंद्रियां अभौतिक है, क्योंकि अप्राप्त दूर की वस्तु को कोई भौतिक पदार्थ ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में दो मत होने से, इंद्रियां भौतिक हैं या अभौतिक, यह शङ्का उत्पन्न होती है। अगले सूत्र में इस पर पूर्व पक्ष का मत व्यक्त करेंगे।

महदणुग्रहणात् ।३४।

सूत्रार्थ—महदणु=महत् और अणु पदार्थ का, ग्रहणात= ग्रहण होने से इन्द्रियों को अभौतिक मानना ही ठीक है।

व्याख्या—नेत्र के द्वारा छोटे से छोटे और बड़े-बड़े पदार्थ का ग्रहण होने से यही सिद्ध होता है कि इंद्रियां भौतिक नहीं, अभौतिक हैं। जिस नेत्र में बड़े-बड़े वृक्ष और पर्वत आदि दिखाई देते हैं, उसी नेत्र से राई के दाने जैसे छोटे से छोटे पदार्थ भी देखे जाते हैं। यदि नेत्र से भौतिक होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। इससे नेत्र का अभौतिक होना ही सिद्ध है।

अगले सूत्र में इस शङ्का का समाधान करेंगे—

रश्म्यर्थ सन्निकर्ष विशेषात् तद्ग्रहणम् ।३५।

सूत्रार्थ—रश्म्यर्थ सन्निकर्ष विशेषात्=रश्मि और नेत्र के विशेष संयोग से, तद्ग्रहणम्=महत् और अणु पदार्थों का ग्रहण होता है, अभौतिक पदार्थ का ग्रहण नहीं होता है।

व्याख्या—सूर्य की किरणें और नेत्र की पुतली दोनों के संयोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से छोटे बड़े सभी पदार्थ दिखाई देते हैं। वे पदार्थ भी सब भौतिक नहीं क्योंकि तेज पञ्चभूतों के अन्तर्गत है। नेत्र से कभी कोई अभौतिक पदार्थ देखा ही नहीं जा सकता। अब दूसरी तरह विचार करें कि प्रकाश में ही रूपों को देखा जा सकता है, अन्धकार में नहीं। अन्धकार ही तो छोटा दीपक ही, जहाँ तक उसके प्रकाश में बाधा नहीं होती, वहाँ तक अपना प्रकाश फैला देता है। इसी प्रकार नेत्र की छोटी-सी पुतली की ज्योति भी दूर तक फैली रहती है। नेत्र से केवल सामने के पदार्थ ही देखे जा सकते हैं। दांये-बांये अथवा पीछे के नहीं देखे जा सकते। यदि नेत्र अभौतिक होते तो सब दिशाओं में समान रूप से देखने में समर्थ सिद्ध होते। ऐसा न होने से भी इन्द्रियों का अभौतिक होना ही सिद्ध होता है। अगले सूत्र में इस पर आक्षेप होता है—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥३६॥

सूत्रार्थ—तदनुपलब्धेः=नेत्र में ज्योति की उपलब्धि न होने से, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—नेत्र में ज्योति का होना कहा है, वह अयुक्त है। क्योंकि नेत्र में ज्योति कल्पित होती है। दीपक में ज्योति होती है, नेत्र में नहीं उसमें तो रूप देखने की शक्ति मात्र होती है, उसी को ज्योति कह देते हैं। यदि नेत्र में ज्योति होती तो उसमें भी दीपक अथवा रश्मियों के समान गर्मी मालुम होती। इसलिए उसे ज्योति कहना भ्रम ही है। प्रत्यक्ष में गोलक और पुतली दो ही वस्तु दिखाई देती है, उसमें ज्योति तो कहीं भी नहीं देखी जाती। इसलिए उपर्युक्त हेतु निरर्थक और अमान्य है।

अब, उक्त शङ्का का समाधान करेंगे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ।३७।

सूत्रार्थ—अनुमीयमानस्य=अनुमान से सिद्ध हुई वस्तु का, प्रत्यक्षतः=प्रत्यक्ष से, अनुपलब्धि=उपलब्धि न होना, अभाव हेतुः=अभाव का हेतु नहीं है।

व्याख्या—अनुमान से सिद्ध हुई वस्तु यदि प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो तो भी उनका अभाव समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को अनुमान से जान लें कि वह है, परन्तु प्रत्यक्ष से कभी दिखाई न दे तो उसका न होना नहीं कह सकते। इसलिये, नेत्र में ज्योति प्रत्यक्ष से भले ही दिखाई न देती हो, परन्तु उसका होना अनुमान से सिद्ध होने के कारण असिद्ध नहीं कह सकते। जैसे चन्द्रमा के पीछे का भाग और पृथिवी के नीचे का भाग दिखाई न देने पर भी, अनुमान से सिद्ध हैं तो उसका प्रत्यक्ष दिखाई न देना उसके अभाव का सूचक नहीं है। इसलिये नेत्र में ज्योति का प्रत्यक्ष न दीखना यह सिद्ध नहीं करता कि नेत्र में ज्योति है ही नहीं।

इसी पक्ष का पुनः समर्थन करते हैं—

द्रव्यगुण धर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥३८॥

सूत्रार्थ—च=तथा, द्रव्य गुण धर्म भेदात्—द्रव्य और गुण के धर्म भेद से, उपलब्धिनियमः=प्रत्यक्ष उपलब्धि का नियम माना जाता है।

व्याख्या—द्रव्य और गुण में धर्म भेद होने से प्रत्यक्ष उपलब्धि का नियम है। तात्पर्य यह है कि अनेक द्रव्य प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होने पर भी अपने गुणों से ग्रहण किये जाते हैं। जैसे जल के सूक्ष्म परमाणु आकाश में व्याप्त रहते हैं, परन्तु वे नेत्र से दिखाई नहीं देते। वे शीत के स्पर्श से अनुभव में आते हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा जाड़ा अथवा ठण्ड पड़ती है। इसी प्रकार अग्नि के सूक्ष्म परमाणु आकाश में व्याप्त रहकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गर्मी की ऋतु को उत्पन्न करते हैं और उन्हींके द्वारा वायु उष्ण होकर लू आदि के रूप में चलता है। परमाणु भी नेत्र से अग्राह्य हैं। इसलिये द्रव्य मात्र दिखाई दे, ऐसा कोई नियम नहीं है।

अगले सूत्र में, इसी पक्ष को विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनेक द्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।३९।

सूत्रार्थ—अनेक द्रव्य समवायात्=अनेक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से, च=और, रूप विशेषात्=रूप की विशेषता से, रूपोपलब्धि:=रूप की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—रूप तेज का गुण है, वह दो प्रकार का है। एक तो उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष होता है, दूसरा अनुभव अथवा स्पर्श से प्रत्यक्ष होता है। जहां रूप और उसके आश्रय रूप द्रव्य को प्रत्यक्ष में देखते हैं, उसे रूप विशेष कहते हैं। जिसके होने से ही रूप का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। रूप के इस धर्म को उद्‌भूत कहते हैं। नेत्र की ज्योति में उद्‌भूत होना रूप धर्म न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज में उद्‌भव और स्पर्श दोनों की उपलब्धि है। जैसे सूर्य रश्मियों का नेत्र से दिखाई देना और त्वचा से स्पर्श का अनुभव होना प्रत्यक्ष है। किसी-किसी पदार्थ में रूप का प्रत्यक्ष होना तो पाया जाता है, परन्तु, स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दीपक की मंद ज्योति नेत्र से तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, परन्तु, त्वचा को उसकी उष्णता का अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक की त्वचा के बिल्कुल ही समीप न आ जाय। कोई-कोई पदार्थ स्पर्श से तो उद्‌भुत रूप हैं, परन्तु, नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होते। जैसे गर्म जल में स्पर्श करने पर गर्मी का अनुभव होता है, परन्तु, गर्मी का रूप दिखाई नहीं देता। कोई-कोई पदार्थ ऐसा भी है जिनमें रूप और स्पर्श दोनों का अनुद्‌भव रहता है, जैसे नेत्र की ज्योति। इससे सिद्ध होता है कि अनेक द्रव्यों के समवय संयोग और रूप विशेष से रूप की उपलब्धि होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में नेत्र ज्योति, सूर्य रश्मि या दीपक की ज्योतिके समान उद्भूत रूप क्यों नहीं होता, इसका समाधान करते हैं—

कर्मकारिश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ।४०।

सूत्रार्थ—च=और, कर्मकारितः=अदृष्ट रूप कर्म से, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों की, व्यूहः=रचना, पुरुषार्थ तन्त्रः=पुरुषार्थ के आधीन है।

व्याख्या—सभी इंद्रियों की रचना जीवात्मा के अदृष्ट कर्म-फल को भोगने के लिए की गई है और सभी इंद्रियां आत्मा के आधीन हैं। जैसे चेतन आत्मा सुख-दुःख आदि को प्राप्त करता रहता है, वैसे ही इंद्रियां उक्त सुख-दुःख आदि को प्राप्त कराने के लिये जीवात्मा को साधना रूप हैं। तात्पर्य यह है कि इंद्रियां और देह आदि स्वतन्त्र नहीं हैं, वे आत्मा के कर्म-फल को उपलब्ध कराने वाले साधन मात्र हैं। यदि कर्मों का भोग न होता तो शरीर और इन्द्रियां भीं न होते। जैसे कि मुक्तावस्था प्राप्त आत्मा के शरीर आदि नहीं रहते और उसे जन्ममरण के बन्धन में नहीं आना होता।

अगले सूत्र में इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिक धर्मः ।४१।

सूत्रार्थ—च=और, अव्यभिचारात्=व्यभिचार दोष न होने से, प्रतीघातः=पदार्थ का प्रतिषेध, भौतिक धर्मः=भूतों का धर्म है।

व्याख्या—किसी आवरण के होने से इन्द्रिय के विषय ग्रहण करने में रुकावट होना भौतिक धर्म कहा गया है। इससे भूतों में व्यभिचार का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। क्योंकि, जो पदार्थ अभौतिक हैं, उनके लिए कहीं कोई बाधा नहीं है। यदि कहें कि आवरण की बाधा होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रिय को भौतिक मानना होगा, तो ऐसा नहीं है। जैसे कांच के पारदर्शक होने से अथवा जल के पारदर्शक होने से नेत्र काँच अथवा जल के आवरण से नहीं रुकते, नेत्र-ज्योति उसके दूसरी ओर की वस्तु को देखने में समर्थ है, इसलिए रुकावट न होने से इन्द्रिय को अभौतिक भी मानना पड़ेगा।

अगले सूत्र में अनुपलब्धि का हेतु देते हैं–

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ।४२।

सूत्रार्थ–मध्यन्दिनोल्का=दुपहरी में तारों के, प्रकाशानुपलब्धिः=प्रकाश की उपलब्धि न होने के, वत्=समान, तदनुपलब्धिः=उसकी अनुपलब्धि समझनी चाहिए।

व्याख्या—तारे सदा रहते हैं, परन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर दिखाई नहीं देते। परन्तु दिखाई न देने से उनका अभाव नहीं माना जाता। इसी प्रकार नेत्रों में ज्योति तो होती है, परन्तु वह दिखाई नहीं देती, इसलिए, उसका न होना नहीं कह सकते। क्योंकि जो पदार्थ अनुद्भूत रूप से स्पर्श धर्म वाला है, उसकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती। यही कारण हैं कि नेत्र में ज्योति होते हुए भी वह दिखाई नहीं देती।

अगले सूत्र में वादी की शङ्का कहते हैं–

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ।४३।

सूत्रार्थ—रात्रौ=रात को, अपि=भी, अनुपलब्धेः=उपलब्धि न होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—यदि कहें कि किसी वस्तु की उपलब्धि न हो तो उसका अभाव भी समझा जायगा, अन्यथा यह कहा जा सकता है कि मिट्टी में भी प्रकाश है, परन्तु वह सूर्य के प्रकाश में दब जाने से नहीं दिखाई देता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो इसका समाधान यह है कि मिट्टी के ढेले का प्रकाश आदि दिन में सूर्य के प्रकाश के अभिभूत होकर दिखाई न देता तो रात्रि में तो दीख पड़ता। परन्तु रात्रि में भी दिखाई न देने से, यही मानना होगा कि मिट्टी में प्रकाश का अभाव है। इससे सिद्ध हुआ कि जो वस्तु किसी भी समय उपलब्ध नहीं, उसकी उपलब्धि मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

तारे के समान नेत्र, ज्योति का अन्य तैजस पदार्थ से अभिभूत होना क्यों न मान लें इस पर कहते हैं—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ।४४।

सूत्रार्थ—बाह्यप्रकाशानुग्रहात्=बाहरी प्रकाश के संयोग से विषयोलब्धेः=विषय की उपलब्धि तथा, अनभिव्यक्तितः=अभिव्यक्ति न होने से, अनुपलब्धिः=रूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या—बाह्य प्रकाश अर्थात् सूर्य आदि के प्रकाश की सहायता से नेत्र देखने में असमर्थ होता है। यदि बाह्य प्रकाश न हो तो नेत्र किसी भी वस्तु को नहीं देख सकता। परन्तु बाह्य प्रकाश उदभूत रूप पदार्थों को ही दिखाने में सहायक होता है,' अनुद्भूत पदार्थ उसके द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। क्योंकि बाह्य प्रकाश में स्थूल पदार्थ ही देखे जा सकते हैं, सूक्ष्म पदार्थ नहीं देखे जा सकते। नेत्र की ज्योति भी सूक्ष्म पदार्थ है, इसलिए उसका देखा जाना बाह्य प्रकाश से भी सम्भव नहीं हैं।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ।४५।

सूत्रार्थ—अभिव्यक्तौ=अभिव्यक्त होने से, च=और,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाहरी प्रकाश के सहारे से, अभिभवात्=अभिभव होना माना जाता है।

व्याख्या—जो पदार्थ प्रकट रूप होते हैं और वाह्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखते, उन्हीं का अभिभव होता है। जैसे तारे, दीपक आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनके लिए किसी वाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, परन्तु, वे सूर्य आदि के प्रकाश के सामने दब जाने से दिखाई नहीं देते। जो पदार्थ उद्‌भूत रूप नहीं होते. परन्तु वाहरी प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं वे नहीं दब पाते। जैसे घट, पट आदि स्थूल पदार्थ तथा नेत्र ज्योति। परन्तु नेत्र ज्योति तारे या दीपक आदि के समान अभिव्यक्त पदार्थ नहीं हैं, इसलिए उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। यदि कहें कि रात्रि में भ्रमण करने वाले जीवों के नेत्रों में तेज की किरणें दिखाई देती हैं, जैसे सिंह आदि कीं, तो मनुष्य की नेत्र-ज्योति क्यों नहीं दिखाई देती? इसका उत्तर यह है कि सिंह आदि तीव्र ज्योति वाले जीव हैं, उनके नेत्रों की उन्नति इसलिए दिखाई देती है, परन्तु मन्द ज्योति वालों की ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी वात को कहते हैं–

नक्तञ्जरनयनरश्मिदर्शनाच्च ।४६।

सूत्रार्थ—नक्तञ्चर=रात्रि में विचरण करने वाले जीवों में, नयनरश्मि=नेत्र ज्योति, दर्शनात्=दिखाई देने से च=भी नेत्र में ज्योति होने के सिद्धान्त की मान्यता होती है।

व्याख्या—रात्रि में विचरण करने वाले जीवों की नेत्र रश्मि अंधेरे के कारण प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उनके नेत्र तैजस धर्म वाले कहे जाते हैं। अर्थात् तीव्र ज्योति होने के कारण उनकी उपलब्धि होती है। मनुष्यों या अन्य मन्द ज्योति वाले प्राणियों में उसके दिखाई न देने से ज्योति का अभाव नहीं कह सकते।

अगले सूत्र में इस पर शङ्का करते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्राप्यग्रहणं काचाऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ।४७।

सूत्रार्थ—काचाऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः=काँचअभ्रक स्फटिक का व्यवधान होने से विषयोपलब्धि होने पर, अप्राप्य ग्रहणम्=बिना प्राप्ति के ही नेत्र विषय को प्रकाश करते हैं।

व्याख्या—इन्द्रिय और पदार्थ का संयोगही रूप को प्रत्यक्ष नहीं कर देता। क्योंकि, काँच अभ्रक और स्फटिक आवरण रूप होने पर भी, उन में से नेत्र के द्वारा रूप का ग्रहण होता है। यदि इन्द्रिय और विषय के संयोग मात्र से ही रूप प्रत्यक्ष हो जाता होता तो आवरण होने पर कोई भी वस्तु दिखाई न देती। परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय अप्राप्य को भी ग्रहण करने में समर्थ है। इसलिए उसे भौतिक नहीं कह सकते। क्योंकि, भौतिक पदार्थ तो केवल प्राप्त को ही ग्रहण कर सकता है, अप्राप्त को नहीं कर सकता।

अगले सूत्र में उक्त शङ्का का समाधान करेंगे—

न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ।४८।

सूत्रार्थ—कुडय्ान्तरितानुपलब्धेः=भीत का आवरण होने पर, अनुपलब्धि, न=नहीं होती, इसलिये, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—भीत का आवरण बीच में आ जाने से नेत्र को उसके परली ओर की वस्तु दिखाई नहीं देती। यदि नेत्र में अप्राप्त वस्तु के ग्रहण करने की भी शक्ति होती और वे भौतिक न होते तो भीत अर्थात् दीवार का आवरण भी पीछे की वस्तु को देखने में बाधक नहीं हो सकता था। कांच आदि के आवरण में देख लेना और भीत आदि के आवरण में न देख सकना अप्राप्य के ग्रहण करने में परस्पर विरोध होने से मान्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। कांच आदि के पारदर्शक होने का धर्म ही उसके विषय की उपलब्धि का कारण है, नेत्र ज्योति का अभौतिक होना नहीं। उससे सिद्ध हुआ कि नेत्र में अप्राप्य विषय के ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, और वह भौतिक है।

अब इसका समाधान करेंगे—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ।४९।

सूत्रार्थ—अप्रतिघातात्=प्रतिघात न होने से, सन्निकर्षोपपत्तिः=समीपता की प्राप्ति है।

व्याख्या—प्रतिघात न होने से संयोग की सिद्धि है। तात्पर्य यह है कि कांच, अभ्रक आदि पदार्थ इतने स्वच्छ हैं कि वे नेत्र की दृष्टि को रोकने में समर्थ नहीं है। इसलिए उनके आवरण रूप होने पर भी विषय संयोग में रुकावट नहीं होती। क्योंकि, संयोग के होने पर ही रूप का ग्रहण हो सकता है, संयोग के न होने पर नहीं हो सकता। इसपर अन्य दृष्टान्त देते है—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ।५०।

सूत्रार्थ—स्फटिकान्तरे=बीच में स्फटिक के होने पर, अपि =भी, दाह्य=जले हुये पदार्थ में, आदित्य रश्मेः=सूर्यरश्मि की, अविघातात्=रुकावट न होने से, उक्त मान्यता का ठीक होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूर्य की किरण कांच आदि के आवरण को पार कर जाती हैं, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण कांच आदि रूप आवरण का गर्म हो जाना है। जब किसी बर्तन में पानी भर कर नीचे अग्नि जला देते हैं तो अग्नि की गर्मी बर्तन के पेंदे को पार करती हुई, पानी में पहुंचकर उसे गर्म कर देती हैं, इससे सिद्ध होता है कि तेज की किरणें सूक्ष्म हैं और वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवरण से भी नहीं रुक पातीं। घड़े आदि का आवरण सूर्य की किरणों को भी उसमें भरे हुये पानी को कर्म करने से नहीं रोक सकता।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं–

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥५१॥

सूत्रार्थ—इतरेतर=अलग-अलग, धर्मप्रसङ्गात्=धर्म का प्रसङ्ग होने से यह मान्यता, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—कांच आदि के आवरण में दृष्टि का न रुकना और दीवार आदि के आवरण में दृष्टि का रुक जाना, यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। यदि नेत्र को अभौतिक मानें तो उसमें दीवार के आवरण से भी रुकावट नहीं होनी चाहिए। परन्तु, ऐसा होने से उपर्युक्त मान्यता का ठीक होना नहीं कह सकते।

अब इस आक्षेप का समाधान करेंगे–

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।५२।

सूत्रार्थ – प्रसादस्वाभाव्यात्=स्वाभाविक स्वच्छता होने से, आदर्शोदकयोः=शीशे और जल में, रूपोपलब्धिवत्=रूप की उपलब्धि के समान. तदुपलब्धिः=उसकी उपलब्धि है।

व्याख्या – जैसे शीशा और जल अपनी स्वाभाविक स्वच्छता के कारण नेत्र ज्योति को नहीं रोक सकते. वैसे ही भीत आदि के मलीन होने से रुकावट के कारण होते हैं। दर्पण आदि में नेत्र दृष्टि भीतर प्रविष्ट होकर उस पर प्रतिविम्ब बनाती है, इसलिए संयोग का प्रतिघात नहीं होता। परन्तु दीवार स्वभाव से मलीन होने के कारण प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकती। इस प्रकार काँच आदि और दीवार आदि के स्वभाव में अन्तर होने से नेत्र-दृष्टि का प्रभाव उन पर समान रूप से नहीं पड़ सकता। इसी की सिद्धि में पुनः कहते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥५३।

सूत्रार्थ—दृष्टानुमितानाम्=दृष्टि और अनुमति वाली वस्तु का, नियोग प्रतिषेधः=नियोग और प्रतिषेध, अनुपपत्तिः=नहीं हो सकता।

व्याख्या—जो वस्तु प्रत्यक्ष में सिद्ध है, अथवा जिसका सही अनुमान होता है, उस वस्तु का नियोग और प्रतिषेध होना नहीं मान सकते। जैसे कांच का आवरण होने पर भी उसमें से दूसरी ओर की वस्तु दिखाई देती है, परन्तु, दीवाल के पीछे की वस्तु नहीं दिखाई देती यह बात अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। अब इसमें यह कहना कि कांच में दिखाई क्यों देता है ? दीवाल में क्यों नहीं दिखाई देता ? यह तर्क निरर्थक है। क्योंकि हर वस्तु की बनावट और क्षमता भिन्न भिन्न होती है इसलिए, सब पदार्थों में समान नियम नहीं है। नेत्र से रूप ग्रहण होता है और नासिका से गन्ध की उपलब्धि होती है। इनमें से एक दूसरे का नियोग मानना भी ठीक नहीं है अब यह विषय समाप्त किया जा रहा है। अगले सूत्र में, इन्द्रिय भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक, इस पर प्रकाश डालेंगे—

स्थानान्यत्व नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च-संशयः ।५४।

सूत्रार्थ—स्थानान्यत्वे=अवयव के भेद से, नानात्वात्=अनेकत्व के होने से, च=ओर, अवयवि नानास्थानत्वात्=अनेक स्थान में एक अवयवी के होने से यह संशयः संदेहास्पदहै।

व्याख्या अनेक स्थान में अनेकों पदार्थों के होने से और अनेक स्थानों में एक अवयवी के होने से यह भेद मालूम होता है और तब यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्देह होने लगता है कि इन्द्रियां एक हैं अथवा अनेक ? क्योंकि अनेक द्रव्य अनेक स्थानों में पृथक्-पृथक रूप से देखे जाते हैं, जैसे एक हीशरीर में हाथ, पांव, अँगुलियां आदि अनेक अवयव हैं और इन सभी अवयवों में एक ही जीवात्मा निवास करता है। इससे यह सन्देह होता है कि हाथ, पांव, अँगुली आदि के समान इन्द्रियां भी अलग-अलग है अथवा एक ही हैं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं–

त्वगव्यतिरेकात् ।५५।

सूत्रार्थ––अव्यतिरेकात्=व्यतिरेक के न होने से, त्वक्=खाल ही एक है।

व्याख्या—खाल अर्थात् त्वचा एक ही है और पूरे शरीर में व्याप्त है इससे सिद्ध होता है कि वही एक इन्द्रिय है क्योंकि शरीर में ऐसा कोई भाग नहीं, जिस पर त्वचा न हो, यदि त्वचा न होती तो अन्य इन्द्रियों के होते हुए भी कोई विषय ग्राह्य नहीं हो सकता था। इसलिए केवल त्वचा को ही सब इन्द्रियों में प्रधान और व्यापक इन्द्रिय मानना चाहिए।

अब इस मत पर आक्षेप करेंगे–

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ।५६।

सूत्रार्थ––इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः=अन्य इन्द्रियों के विषय की उपलब्धि न होने से, न=ऐसा मानना ठीक नहीं।

व्याख्या—अन्धे को नेत्र वाले पुरुष के समान ज्ञान नहीं होता। यदि त्वचा ही से ज्ञान होता तो अन्धे को भी वैसा ज्ञान होना चाहिये था। बहरे को भी कान से सुनाई देने वाले के समान विषय ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि त्वचा हीं सब विषयों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान कराने वाली नहीं है. किन्तु, अन्य इन्द्रियों के द्वारा उन-उन से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान होता है। त्वचा से तो केवल स्पर्श का ही ज्ञान होता है गन्ध, रूप रस और शब्द का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां तो नासिका, नेत्र, जिह्वा एवं श्रोत्र हैं। इससे इन्द्रियों का अनेकत्व सिद्ध होता है। इस पर आक्षेप करते हैं–

त्यगवयवविशेषण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।५७।

सूत्रार्थ—त्यगवयव=त्वचा के अवयवों की, विशेषेण=विशेषता से, धूमोपलब्धि=धुँए की उपलब्धि के समान, तदुपलब्धिः=रूप आदि की की उपलब्धि होती है।

व्याख्या - जैसे त्वचा का विशेष भाग धुएँ की उपलब्धि कराता है, उसी प्रकार, रूप की भी उपलब्धि कराता है। इसी प्रकार त्वचा के किसी भाग से रस की, किसी से शब्द की उपलब्धि होती है। त्वचा के विशेष भाग के नष्ट हो जाने पर न धुँए की उपलब्धि होती है और न रूप की ही। नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा आदि त्वचा के विशिष्ट भाग ही हैं, इनमें से नेत्र के न होने रूप का ग्रहण नहीं होगा और श्रोत्र के न रहने से शब्द का तथा जिह्वा के न रहने से रस का ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए त्वचा को ही इन्द्रिय मानना अनुचित नहीं है।

आहतत्वादहेतुः ।५८।

सूत्रार्थ—आहतत्वात्=व्याघात होने से, अहेतुः=उपर्युक्त हेतु प्रमाणिक नहीं है।

व्याख्या—व्याघात दोष के होने से उक्त हेतु, अहेतु समझना चाहिए वादी ने पहले कहा था कि शरीर का कोई भाग अलग नहीं है और सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय हैं। परन्तु, अब उसके विपरीत कहता है कि त्वचा के एक विशेष भाग से धुँए और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे से रूप आदि की प्राप्ति होती है। विशेष भागों के द्वारा विषयों का ग्रहण किया जाना और उनके न होने से ग्रहण न किया जाना, यह सिद्धान्त विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का अनेकत्व सिद्ध करता है। इस प्रकार वादी का पहिले कहा हुआ मत स्वयं ही कट जाता है। इन्द्रियों के सभी स्थानों में त्वचा के व्यापक होने में उसे एक इन्द्रिय कहा है, परन्तु ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि, यदि सब में व्याप्त होने से ही त्वचा सर्व ज्ञान की उपलब्धि करा सकती तो फिर पंच भूतों को ही इन्द्रिय क्यों न मान लें। क्योंकि यह भी सर्वत्र व्याप्त और इन्द्रियों के आश्रयभूत भी हैं। यदि ऐसा नहीं मान सकते तो त्वचा को भी एक इन्द्रिय मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता।

इसी पक्ष में एक अन्य हेतु देते हैं—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ।५९।

सूत्रार्थ—युगपत्=एक ही समय में, अर्थानुपलब्धेः=सब विषयों की अनुपलब्धि मानना, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—त्वचा इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा एक ही समय में बहुत से विषयों का ज्ञान नहीं होता और सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होने पर भी वह सभी विषयों का ज्ञान कराने का सामर्थ्य नहीं रखती। इससे इन्द्रियों का अनेक होना सिद्ध होता है। त्वचा को एक इन्द्रिय मानने वाले यह बतायें कि त्वचा के रखते हुए कोई अन्धा बहरा होगा या नहीं? यदि हो सकता है तो उनका मत असत्य सिद्ध होता है। क्योंकि, त्वचा के होने पर भी नेत्र के बिना रूप का और श्रोत्र के बिना शब्द का ज्ञान हो नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ शरीरस्थ सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को अलग-अलग ग्रहण करती हैं और त्वचा एक मात्र इन्द्रिय नहीं है।

अगले सूत्र में इस पर अन्य हेतु देते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ।६०।

सूत्रार्थ--विप्रतिषेधात्=विप्रतिषेध होने से, च=भी, त्वक् =त्वचा, एका=एक इन्द्रिय, न=नहीं है ।

व्याख्या—विप्रतिषेध अर्थात् दो समान शक्तियों का पारस्परिक विरोध होने से भी त्वचा को एक इन्द्रिय नहीं मान सकते । जैसे नेत्र से दूर के पदार्थ देखे जा सकते हैं, परन्तु त्वचा से दूर के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता । यदि त्वचा हेतु ही इन्द्रिय होती तो उसमें दूर की वस्तु का ग्रहण और रूप का ग्रहण दोनों के करने की सामर्थ्य होती । अथवा मिली हुई वस्तु के समान उससे रूप का भी ज्ञान होना चाहिए था । परन्तु, रूप का ज्ञान दृष्टि से और स्पर्श का संयोग से अर्थात् किसी वस्तु को छूने से ही हो सकता है । इन दोनों में परस्पर विरोध होने से यही मानना ठीक है कि रूप को ग्रहण करने वाली तथा स्पर्श को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ पृथक-पृथक ही हैं । इसलिए त्वचा को एक इन्द्रिय कहना उचित नहीं है ।

इसी पक्ष में पुनः युक्ति उपस्थित करते हैं--

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ।६१।

सूत्रार्थ--इन्द्रियार्थ=इन्द्रियों के विषय, पञ्चत्वात्= पांच होने से भी नहीं मान्यता ठीक है ।

व्याख्या--रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श यह पाँच विषय हैं । इनको ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियाँ है – नेत्र, जिह्वा, नासिका, श्रोत्र और त्वचा । इसका तात्पर्य है कि रूप को केवल नेत्र ही ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि अन्य इन्द्रियों से रूप की उपलब्धि नहीं होती । रसास्वादन करने वाली इन्द्रिय जिह्वा है, अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा रस ग्रहण नहीं हो सकता । गन्ध का ज्ञान नासिका से होता है और शब्द का श्रोत्र के द्वारा । इसी प्रकार त्वचा से केवल स्पर्श का ही ज्ञान हो सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। वह किसी अन्य विषय का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाँच विषयों का ज्ञान उन्हीं से सम्बन्धित इन्द्रियों के द्वारा होता है। उनमें से त्वचा भी एक इन्द्रिय है।

अगले सूत्र में इस पर पुनः शङ्का करते हैं—

न तदर्थ बहुत्वात् ।६२।

सूत्रार्थ—तदर्थ बहुत्वात्=इन्द्रियों के विषय अनेक होने से, न=ऐसी मान्यता ठीक नहीं।

व्याख्या—इन्द्रियों के बहुत से विषय हैं, इसलिए पाँच ही इन्द्रियाँ हैं ऐसी मान्यता ठीक नहीं। जैसे ठण्डा और गर्म के भेद से स्पर्श कई प्रकार का है, अथवा काला, श्वेत, पीला आदि के भेद से रूप के भी अनेक प्रकार हैं, गन्ध में भी सुगन्ध और दुर्गन्ध, उसमें भी विभिन्न प्रकार की सुगन्ध और दुर्गन्ध होने से अनेकों भेद हैं। वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेद से शब्द भी भेद वाला है। कड़ुआ या मीठा होना रस का भी भेद है और उसमें भी अनेक भेद-प्रभेद हैं इससे सिद्ध हुआ कि विषयों के असंख्य होने से इन्द्रियाँ भी असंख्य हैं, केवल पांच ही नहीं हो सकती।

अब इसका समाधान करेंगे—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ।६३।

सूत्रार्थ—गन्धादीनाम्=गन्ध आदि में, गन्धत्वाद्य=गन्धत्व आदि का, व्यतिरेकात्=व्यतिरेक होने से, अप्रतिषेधः=निषेध किया जाना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—गन्ध आदि के सामान्य धर्म से, उनका पृथक नहीं होना उसका निषेध सिद्ध नहीं करता। जैसे सुगन्ध हो या दुर्गन्ध, दोनों में गन्धत्व हैं, इसलिए जहाँ गन्धत्व है वहाँ दोनों की एकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और दोनों का ग्रहण नासिका द्वारा ही होता है किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार स्पर्श ठन्डा हो या गर्म उसमें स्पर्शत्व तो है ही और वह केवल त्वचा के द्वारा ही ग्रहण होना। शब्द वर्णात्मक हो या ध्वन्यात्मक, उसमें शब्दत्व तो है ही और कान ही उसे सुनेंगे। रस कडुआ हो या मीठा, रसत्व दोनों भेदों में होगा और उसका स्वाद जिह्वा से ही मालूम हो सकेगा। रूप भी काला, पीला,सफेद,लाल कैसा भी क्यों न हो, उसमें रूपत्व अवश्य होगा, और वह केवल नेत्र द्वारा ही ग्रहण किया जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि विषयों की पाँच जातियाँ ही हैं और उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियां भी पाँच ही हैं। इसलिए इन्द्रियों के असंख्य होने की कल्पना करना निरर्थक तथा अमान्य है।

अब, अगले सूत्र में इस पर पुनः कहते हैं—

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ।६४।

सूत्रार्थ—विषयत्वाऽव्यतिरेकात्=विषयत्व के व्यतिरेक न होने से, एकत्वम्=इन्द्रिय का एक होना सिद्ध है।

व्याख्या—विषयत्व एक ही वस्तु है। चाहे कोई भी विषय क्यों न हो, प्रत्येक में विषयत्व तो होगा ही। जब विषयत्व एक है तो इन्द्रिय भी एक होनी चाहिए। जैसे सुगन्ध हो या दुर्गन्ध, दोनों में गन्धत्व का एक होना मानते हो तो, रूप हो या रस, शब्द हो या स्पर्श, सभी विषयों में एक ही विषयत्व होना क्यों नहीं मानते? यदि मानते हो तो उस विषयत्व को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय भी एक ही माननी होगी क्योंकि एक विषयत्व के मानने पर इन्द्रियों के अनेकत्व की कल्पना युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकती। इससे यही मानना चाहिए कि इन्द्रिय एक ही है।

अब इस पर आक्षेप करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृति-जातिपञ्चत्वेभ्यः ।६५।

सूत्रार्थ—बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिः=बुद्धि, लक्षण अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति, पञ्चत्वेभ्यः=इन पाँच के होने से, न=इन्द्रिय को एक नहीं मान सकते ।

व्याख्या—बुद्धि का तात्पर्य ज्ञान से है, वह नेत्र आदि भेदों से पाँच प्रकार का है । जब ज्ञान के पाँच भेद हैं तो उसके कारण भी पाँच ही होंगे । इन्द्रियों के अधिष्ठान अर्थात् स्थान भी पाँच हैं अर्थात् स्पर्श का अधिष्ठान त्वचा, रूप का अधिष्ठान नेत्र की पुतली, गन्ध का नासिका, रस का जिह्वा और शब्द का श्रोत्र । गति भेद भी पाँच प्रकार का ही है—इन्द्रियों की आकृति भिन्न-भिन्न है और वह भी पाँच प्रकार की है । जाति अर्थात् कारण भी पाँच हैं—नेत्र का तेज, जिह्वा का जल, श्रोत का आकाश, त्वचा का वायु और नासिका का पृथिवी । इस प्रकार पाँच इन्द्रियों का होना बुद्धि, लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति के आधार पर भी सिद्ध होता है, इसलिए इन्द्रिय का एक होना कहा जाना युक्तिसंगत नहीं है । अगले सूत्र में इन्द्रियों के कारण पाँच भूत कैसे हैं ? इस शङ्का का समाधान करेंगे ।

भूत गुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ।६६।

सूत्रार्थ—भूतगुणविशेषोपलब्धेः=पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के गुणविशेष को उपलब्धि से, तादात्म्यम्=इन्द्रियां उन भूतों के कार्य हैं, यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—गन्ध आदि का ग्रहण पांचों इन्द्रियों के कार्य हैं । जिस भूत की विशेषता वाली जो इन्द्रिय है वह उसी के गुण से अविभूत है । क्योंकि गन्ध आदि गुणों की पञ्चभूतों से प्रत्यक्ष उपलब्धि देती है । जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वायु में स्पर्श की अनुभूति होती है, आकाश से शब्द अग्नि से रूप. जल से रस और पृथिवी से गन्ध की। इस प्रकार पञ्चभूतों का अपने-अपने गुण विशेष से सम्बन्धित इन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है। इससे इन्द्रियों के कारण पंचभूत हैं, यही मानना ठीक है। जिस इन्द्रिय से जिस भूत के गुण विशेप का ज्ञान हो, वह इन्द्रिय उसी भूत का कार्य समझना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे पञ्चभूतात्मक हैं। अब इन पञ्चभूतों के गुण का वर्णन करेंगे।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानांस्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्यामप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ।६७।

सूत्रार्थ—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम्=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इनमें, स्पर्शपर्यन्ता पृथिव्याम=स्पर्श पर्यन्त अर्थात् गन्ध, रूप, रस और स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के हैं, और पूर्व-पूर्वम्=पहले-पहले को छोड़कर, अप् तेजो वायूनाम्=जल, तेज और वायु का, और उत्तरः=सब के अन्त से, आकाशस्य=आकाश का गुण कहा गया है।

व्याख्या—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के हैं। रस, रूप और स्पर्श यह तीन गुण जल के हैं। रूप और स्पर्श यह दो गुण अग्नि के हैं। स्पर्श वायु का गुण है और शब्द आकाश का। इस प्रकार पंचभूतों के गुण कहे गये हैं।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

न सर्वगुणानुपलब्धेः ।६८।

सूत्रार्थ – सर्वगुणानुपलब्धेः=सब गुणों की उपलब्धि न होनें से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या जिस भूत का जो गुण है वह उसी की कार्य-भूत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है, दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। इसलिए यह कथन ठीक नहीं कि नासिका से पृथ्वी का गन्ध गुण ही ग्रहण होता है, शेष तीन गुण रस, रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती। जैसे पृथ्वी की इन्द्रिय नासिका कही है, उससे गन्ध गुण ही ग्रहण होता है, शेष तीन गुण ग्रहण नहीं होते। जल कीं इन्द्रिय जिह्वा केवल रस को ग्रहण करती है, रूप और स्पर्श को ग्रहण नहीं करती है। अग्नि की इन्द्रिय नेत्र से रूप का ही ग्रहण होता है, स्पर्श का नहीं होता। इस प्रकार जिस भूत की जो इन्द्रिय है, उसके द्वारा उस भूत के सब गुणों का ग्रहण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मान्यता दोष पूर्ण है और उसकी सिद्धि नहीं होती।

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ।६८।

सूत्रार्थ—उत्तरोत्तराणाम्=बाद के भूतों में, एकैकस्य=एक-एक, एव=ही उत्तर गुण, सद्भावात्=उत्तरोत्तर गुण के होने से, तदनुपलब्धिः=उसकी उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पञ्चभूत हैं तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पाँच गुण हैं। इन पाँचों गुणों में एक-एक भूत का क्रमशः एक-एक ही गुण है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी का गुण गन्ध, जल का गुण रस, तेज का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श आकाश का गुण शब्द है। इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने कारण के गुण की ही उपलब्धि होती है। अन्य के गुण की उपलब्धि नहीं होती। इस पर शङ्का हो सकती है कि यदि एक-एक भूत का एक-एक गुण ही है तो सड़सठवें सूत्र में पृथिवी के चार गुण, जल के तीन और अग्नि के दो क्यों कहें हैं? अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ।७०।

सूत्रार्थ—च=और, संसर्गात्=ससर्ग से, अनेक गुण ग्रहण म् =अनेक गुणों का ग्रहण होता है।

व्याख्या—प्रत्येक भूत में एक-एक ही गुण हैं। फिर भी उनमें एक दूसरे के परमाणु मिल जाते हैं। इसलिए, संसर्ग होने से उनमें विभिन्न भूतों के गुणों की उपलब्धि होती है। वास्तव में कार्य रूप पृथिवी में ही चार गुण उपलब्ध होते हैं, कारण रूप पृथिवी में नहीं। इसी प्रकार कार्यरूप जल में तीन गुण तथा कार्यरूप तेज में दो गुणां का होना पाया जाता है। कारणरूप भूतों में अधिक गुणों की उपलब्धि नहीं होती।

अगले सूत्र में इसी को स्पष्ट करते हैं।

विष्टं ह्यपरं परेण ।७१।

त्रसूार्थ—अपरम्=अपर में, अर्थात् पृथिवी आदि में, परेण= पर का, विष्टम्=सम्बन्ध, हि=ही है।

व्याख्या—पृथिवी का जल के साथ सम्बन्ध होने से रस के साथ संयोग होने का ज्ञान होता है। अर्थात् पहले पृथिवी का वर्णन है, उसके साथ दूसरे जल का सम्बन्ध होता है। जल के संसर्ग से पृथिवी के दो गुण हुए, फिर तेज से संसर्ग हुआ तो तीन गुणों वाली और वायु का संसर्ग और होने से चार गुण वाली होती है। इस प्रकार चार गुण पृथिवी के माने गये हैं। इसी प्रकार जल में तेज और वायु के गुणों का समावेश होने से उसे तीन गुण वाला मानते हैं। इसी प्रकार अग्नि के साथ वायु का संसर्ग होने से उसके दो गुण रूप और स्पर्श कहे गये हैं। इस प्रकार गुणों की अधिकता संसर्ग जन्य ही है, यथार्थ में तो प्रत्येक भूत का एक-एक गुण होता है।

अब इस पर शंका करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ।७२।

सत्रार्थ=पार्थिवाप्योः=पार्थिव और आप्य द्रव्यों के, प्रत्यक्ष-त्वात्=प्रत्यक्ष होने से, न=उक्त मत मान्य नहीं है।

व्याख्या—एक भूत का एक गुण कहना ठीक नहीं। क्योंकि पार्थिव और आप्य द्रव्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि है। अर्थात् पृथिवी में गन्ध गुण और जल में रस प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यदि अग्नि का गुण रूप को मानें तो आग्नेय पदार्थ ही दिखाई देने चाहिए, जल आदि का गुक्ष प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् नेत्र केवल आग्नेय ही पदार्थों का ग्रहण नहीं करता, किन्तु पार्थिव और जलीय को भी देखता है, इसलिए संसर्ग से अनेक गुणों को ग्रहण करने वाली युक्ति सिद्ध नहीं होती। फिर यह कहना कि कार्य-रूप पृथिवी के चार गुण हैं, कारण रूप पृथिवी का तो एक ही है, ठीक नहीं, क्योंकि कारण का एक गुण है तो कार्य में चार गुण कहाँ से आ गये? जो धर्म कारण में होंगे, वही तो कार्य में आवेंगे। कारण के विपरीत धर्म कार्य में आ ही नहीं सकते। परन्तु, पार्थिव पदार्थों में गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप स्पर्श भी पाया जाता है और जलीय पदार्थों में रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श मिलता है तथा आग्नेय पदार्थों में रूप के अतिरिक्त स्पर्श भी है। इससे एक-एक भूत में अनेक गुणों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो बहुत्व की उपलब्धि संसर्गज किस प्रकार हुई? यदि वायु के संसर्ग से आग्नेय पदार्थ में स्पर्श गुण आ जाता है तो अग्नि के संसर्ग से वायु सम्बन्धी पदार्थ में रूप गुण क्यों नहीं आ जाता? क्योंकि संसर्ग तो दोनों में ही हो सकता था। पार्थिव रस छैः प्रकार का होता है और जल में एक मधुर रस ही है, इससे भी संसर्ग द्वारा पार्थिव पदार्थ में आप्य गुण की प्राप्ति सिद्ध नहीं होती। जल में केवल श्वेत रूप है, परन्तु पृथिवी में लाल, पीला, नीला, हरा आदि विभिन्न रूप होने से पृथिवी में जल के संसर्ग से उसके गुण की उपलब्धि कहना निरर्थक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में घ्राण आदि की गन्ध आदि गुणों की प्रधानता के सम्बध में कहते हैं।

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ।७३।

सूत्रार्थ--पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्=पहिले-पहिले गुण के उत्कर्ष से, तत्प्रधानम्=गुणों की प्रधानता है।

व्याख्या—गन्ध, रस, रूप और स्पर्श यह चार गुण पृथिवी के कहे गये हैं। इनमें प्रथम गुण गन्ध हैं, वह प्रथम होने से ही उत्कृष्ट है और बाद के रस, रूप, स्पर्श गुण गौण हैं। इसी प्रकार रस, रूप और स्पर्श गुण जल, के हैं। इसमें रस प्रथम होने से प्रधान है और रूप, स्पर्श दोनों गौण हैं। तेज के गुण रूप और स्पर्श है। इनमें रूप प्रधान हैं। इन प्रधान गुणों को ही उनसे सम्बन्धित इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। इसी से सिद्ध होता है कि एक इन्द्रिय अनेक गुणों को ग्रहण नहीं करती।

अगले सूत्र में भी इसी की पुष्टि करते हैं।

तदव्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात्: ।७४।

सूत्रार्थ—तु=यथा, भूयस्त्वात्=पृथिवी आदि भूतों के प्रभाव से, तत् व्यवस्थानम्=घ्राण आदि में इन्द्रियों का व्यवहार होने की व्यवस्था है।

व्याख्या – पृथिवी आदि भूतों के सभी कार्यों में गन्ध आदि गुणों की उपलब्धि होने पर भी नासिका-इन्दिय में पार्थिव गुणों की अधिकता है। इसी प्रकार जिस-जिस भूत से जो इन्द्रिय सम्बन्धित है, वह उसी उसी भूत के गुण को ग्रहण करती है। जैसे पृथिवी के चार गुण हैं, परन्तु, उसमें उसका मुख्य गुण गन्ध ही है और पार्थिव गुण को ग्रहण करने वाली नासिका ही गन्ध-गुण को ग्रहण करती है। इसी प्रकार जल का प्रधान गुण रस है और जिह्वा उस गुण को ग्रहण करने के लिए नियत है। रूप अग्नि का गुण है, नेत्र उस गुण को ग्रहण करता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। स्पर्श वायु का गुण है, उसे त्वचा और शब्द आकाश का गुण है, उसे कान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक गुण को ग्रहण करने के लिये उसकी निश्चित इन्द्रिय होने की व्यवस्था है। उस व्यवस्था के विपरीत व्यवहार नहीं होता।

अगले सूत्र में कहेंगे कि अपने-अपने गुणों को बिना पदार्थ की सहायता के इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं करती ?

सगुणानामिन्द्रियभावात् ।७५।

सूत्रार्थ—सगुणानामिन्द्रिय=गुणों सहित इन्द्रिय में इन्द्रियत्व भावात्=होने से।

व्याख्या—घ्राण आदि इन्द्रिय यदि भूतों का कार्य है तो उनमें भी गन्ध आदि गुणों की विद्यमानता होनी चाहिए, परन्तु बाहरी वस्तु के होने पर ही उनमें गन्ध आदि की विद्यमानता होती है, बाहरी वस्तु के बिना नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि गन्ध वाली कोई वस्तु होगी, तभी नासिका को गन्ध का ज्ञान होगा, बिना वस्तु के गन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता अथवा रूप होगा, तभी नेत्र को रूप ज्ञान होगा' रूप के न होने पर नहीं हो सकता। रस होगा तभी जिह्वा उसे ग्रहण करेंगे। न होगा तो कहाँ से करेगी ? अथवा वायु चलेगा, तभी त्वचा को उसका स्पर्श-ज्ञात होगा। इसी प्रकार शब्द होगा तो कान उसे ग्रहण करेगा, न होगा तो कान में शब्द की विद्यमानता तो नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य वस्तु के बिना, इन्द्रिय किसी गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।

अब, इसका समाधान करते हैं—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ।७६।

सूत्रार्थ—च=और, तेनैव=उसी इन्द्रिय के द्वारा, तस्य=उसका, अग्रहणात्=ग्रहण न होने से इन्द्रियत्व के गन्धादि गुण उद्भूत रूप नहीं हो सकते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या – जिस-जिस इन्द्रिय द्वारा जिस-जिस विषय का ज्ञान होता है विषय वस्तु की सहायता से ही होता है। इसमें वस्तु सहायक है। यदि सहायक नहीं है तो इन्द्रिय भी अपने स्वरूप को अर्थात् अपने आन्तरिक गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होगी। क्योंकि, कोई भी वस्तु बाहरी सहायता के विना अपने को ग्रहण नहीं कर पाती। जैसे नेत्र अपने भीतर के पदार्थ को नहीं देख सकते, परन्तु, बाहरी पदार्थों को देखने में समर्थ हैं। हाथ से भी बाह्य वस्तु ही पकड़ी जा सकती है, आन्तरिक नहीं। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य वस्तु की सहायता के बिना इन्द्रिय अपने विषय को नहीं ग्रहण कर सकती।

अब, इस पर शंका करते हैं—

न शब्द गुणोपलब्धेः ।७७।

सूत्रार्थ—शब्द गुणोपलब्धेः=शब्द गुण की उपलब्धि होने से, उक्त कथन न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—क्योंकि शब्द गुण उपलब्ध होता है, इसलिये यह कहना कि इन्द्रिय अपने आन्तरिक गुण को ग्रहण करने में समर्थ नहीं, अनुचित है। क्योंकि कान को अपने आन्तरिक गुण की उपलब्धि होते देखी जाती है। यदि कानों को बन्द कर लें तो उसमें स्वयं ही शब्द सुनाई देते हैं। इस प्रकार शब्द की आन्तरिक उपलब्धि होने से उपर्युक्त कथन असिद्ध हो जाता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्य गुणवैधर्म्यात् ।७८।

सूत्रार्थ–इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्=ब्रह्मत्व इनमें पारस्परिक विपरीत लक्षण होने से, तदुपलब्धिः=शब्द की उपलब्धि होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या पृथिवी आदि द्रव्य में गन्ध आदि विशेष गुणों की उपलब्धि होती है परन्तु, उन गुणों के धर्मों में विपरीतता है। अन्य गुणों की उपलब्धि सहायक वस्तु के अभाव में नहीं होती, परन्तु, शब्द गुण ऐसा है जो सदा गूंजता है और कान, बन्द करने पर सुनाई देता है तो वह उसकी अपनी विशेषता है, उसमें इन्द्रियत्व का कोई दोष नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने गुणों को ग्रहण करना प्रत्यक्ष नहीं है और न ऐसा अनुमान से ही सिद्ध हुआ है। परन्तु, श्रोत्र के द्वारा शब्द का ग्रहण किया जाना अनुमान से सिद्ध है और आकाश को शब्द गुण वाला तो सभी मानते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि आकाश श्रोत्रेन्द्रिय का कारण रूप है।

॥ तृतीयोऽध्यायः—प्रथमान्हिक समाप्तः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीयोऽध्यायः--द्वितीयाह्निकम्

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ।१।

सूत्रार्थ—कर्माकाशसाधर्म्यात्=कर्म और आकाश के समान धर्मी होने से, संशय=संदेह होता है।

अब बुद्धि की परीक्षा आरम्भ की गई है। बुद्धि नित्य है या अनित्य इसका निरूपण करते हैं। बुद्धि में भी अस्पर्शत्व धर्म कर्म और आकाश के समान ही हैं। परन्तु, कर्म और आकाश दोनों में कर्म अनित्य है और आकाश नित्य है। इसमें शंका यह है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के समान नित्य ?

अगले सूत्र में बुद्धि का नित्यत्व कहते हैं—

विषय प्रत्यभिज्ञानात् ।२।

सूत्रार्थ—विषय=विषयों की, प्रत्यभिज्ञानात्=प्रत्यभिज्ञा होने से बुद्धि को नित्य समझना चाहिये।

व्याख्या - प्रत्यभिज्ञा उसे कहते हैं, जहां पहिले कभी देखी हुई वस्तु की याद आने पर कहें कि वही वस्तु है जिसे मैंने पहिले देखा था। पहले देखी हुई वस्तु के याद आ जाने से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि नित्य है।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते है।

साध्य समत्वादहेतुः ।३।

सूत्रार्थ—साध्यसमत्वान्=साध्यसम होने से, अहेतुः=उक्त कथन अयुक्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का लक्षण मानना साध्य होने से ठीक नहीं है। जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है, वैसे ही प्रत्यभिज्ञा का बुद्धि-धर्म होना भी साध्य हैं। एक साध्य की सिद्धि में दूसरे साध्य का दृष्टान्त ही साध्यसम हेत्वाभास है। प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का नहीं, चेतन आत्मा का धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि किसी जाने हुए विषय को आत्मा ही बुद्धि के द्वारा स्मरण करता है। इसलिए उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।

न युगपदऽग्रहणात् ।४।

सूत्रार्थ—युगपत्=एक साथ ही, अग्रहणात्=ग्रहण न होने से, न=वृत्ति और वृत्तिमान् का एक होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि वृत्ति और वृत्तिमान् का एक होना मानें तो वृत्तिमान् की स्थिति से वृत्ति का स्थिर होना भी मानना होगा। यदि वृत्ति स्थिर होगी तो एक समय में ही अनेक विषयो का ज्ञान हो जायगा। परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसलिए वृत्ति और वृत्तिमान में भेद मानना सिद्ध होता है।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाश प्रसंग ।५।

सूत्रार्थ—अप्रत्यभिज्ञाने=प्रत्यभिज्ञा के न होने पर, विनाश प्रसंगः=वृत्तिमान् के नष्ट होने का प्रसंग, च=भी उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि प्रत्यभिज्ञा को न मानेंगे तो वृत्तिमान का मानना भी असगत होगा। इससे सिद्ध हुआ कि वृत्ति और वृत्तिमान् में कोई भेद नहीं है। अगले सूत्र में एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहेंगे।

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ।६।

सूत्रार्थ—क्रमवृत्तित्वात्=क्रम वृत्ति होने से, अयुगपत् ग्रहणम् = युगपत् ग्रहण नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—एक देशीय मन का इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक संयोग होता है, इस एक बार अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती। और एक बार में अनेक ज्ञान न होने से वृत्तिमान् में भेद होना सिद्ध होता है।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यास संगात् ।७।

सूत्रार्थ—च=और, विषयान्तरव्यास संगात्=विषयान्तर के संयोग से, अत्यभिज्ञानम्=प्रत्यभिज्ञा नहीं।

व्याख्या—जब मन किसी विषय में आसक्त होता है, तब उस विषय के अतिरिक्त किसी अन्य विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध होता है।

न गत्यऽभावात् ।८।

सूत्रार्थ—गत्यऽभावात्=गति के अभाव से, न=विभुपद के अर्थ में युगपत् का ग्रहण न होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि मन को विभु मानें तो गति का न होना मानना होगा। जब गति न होगी तो मन का इन्द्रियों के साथ क्रम पूर्वक संयोग भी न हो सकेगा। यदि संयोग न होगा तो एक समय में अनेक ज्ञान होना भी नहीं रुक सकता। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता इसलिए मन को विभु नहीं मान सकते।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवदन्यत्वाभिमानः ।९।

सूत्रार्थ—स्फटिकः=स्फटिक में अन्यत्वाभिमानवत्=अन्यत्व के अभिमान के समान, अन्यत्वाभिमानः=उसमें भी अन्यत्व का अभिमान दिखाई देता है।

व्याख्या—जैसे स्फटिक मणि पर लाल रंग की छाया पड़े तो, वह भी लाल दिखाई देती हैं, वैसे ही विभिन्न विषयों के संयोग से मन भी विभिन्न प्रकार का होता दिखाई देता है। यथार्थ में मन विभु नहीं, एकदेशीय ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

न हेत्वभावात् ।१०।

सूत्रार्थ हेत्वभावात्=हेतु का अभाव होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या--स्फटिक के दृष्टान्त में हेतु का अभाव है, इसलिए उसे ठीक नहीं कह सकते। क्योंकि वृत्तियों में अन्यत्व का अभिमान भ्रम से नहीं है किन्तु जैसे गन्ध आदि गुणों के समान उनके ज्ञान की उपलब्धि अलग-अलग होती है तो इसमें गन्धादि गुणों से की भिन्नता के समान ज्ञान की भिन्नता भी क्यों न मानलें? यदि कहें कि दोनों के दृष्टान्त में हेतु का अभाव समान रूप से है तो ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि, इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से क्रमपूर्वक ज्ञान उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। इसलिए वृत्तियों के अनेक होने में गन्ध आदि गुणों का उदाहरण अनुचित नहीं है।

स्फटिकान्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वादव्यक्तीनामहेतुः ॥११॥

सूत्रार्थ--क्षणिकत्वात् व्यक्तीनाम्=व्यक्तियों के क्षणिक होने से, स्फटिकऽन्यपरापरोत्पत्तेः=स्फटिक में पर और अपर की उत्पत्ति से, अहेतु=यह हेतु अयुक्त है।

व्याख्या--स्फटिक में वस्तु और रङ्ग के भेद से अनेकत्व की भ्रांति कही गई, क्योंकि स्फटिक अपने यथार्थ रूप में अवस्थित है। इस पर शङ्का की जाती है कि सब व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी कोई व्यक्ति उत्पन्न होता है और कोई नष्ट होता है।, सभी वस्तुओं का क्षणिक होना वस्तुओं के घटने-बढ़ने और शरीर के संयोग-वियोग तथा आहार के पचने और विरेचन आदि से सिद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ।१२।

सूत्रार्थ=नियमहेत्वभावाद्=नियामक हेतु के अभाव से, यथादर्शनमभ्यनुज्ञा=जैसा दिखाई दे वैसा माने।

व्याख्या—ज्ञान में भेद मानना ठीक है, परन्तु स्फटिक का क्षणिकता के आधार पर खण्डन करना उचित नहीं। क्योंकि, सभी वस्तुओं में घटने-बढ़ने सम्बन्धी नियत में समानता नहीं देखी जाती।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।१३।

सूत्रार्थ--उत्पत्ति विनाशकारणोपलब्धेः=उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि, न=न मिलने से उपर्युक्तयुक्ति सङ्गत नहीं बैठती।

व्याख्या—जैसे वृद्धि उत्पत्ति का कारण और क्षय विनाश का कारण समझा जाता है और देह आदि के उत्पन्न होने और नष्ट होने के कारण उपलब्ध होते हैं, वैसे स्फटिक आदि में उत्पत्ति और विनाश के कारण दिखाई न देने से उन्हें शरीर आदि के समान क्षणिक कहना उपयुक्त नहीं है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

क्षीरविनाशेकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ।१४।

सूत्रार्थ--क्षीर विनाशे=दूध के नष्ट होने पर, कारणानुपलब्धिवत्=कारण की उपलब्धि न होने के समान, च=तथा, दध्युत्पत्तिवत्=दही की उत्पत्ति के समान, तदुपपत्तिः=उसकी सिद्धि मानना उचित है।

व्याख्या—जैसे दूध से दही बनता है, तब उसके कारण दूध का नाश हो जाता है। यद्यपि दूध के नष्ट होने का कारण दही के उत्पन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने का कारण मालुम नहीं होता, फिर भी दही की उत्पत्ति और दूध का नाश होना मानते ही हैं। इसी प्रकार स्फटिक में भी कारण का ज्ञान हुए विना ही पूर्व व्यक्ति का नाश और वाद के व्यक्ति की उत्पत्ति माननी चाहिए।

अगले सूत्र में उत्तर देंगे—

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ।१५।

सूत्रार्थ - लिङ्गतो=लिङ्ग से, ग्रहणात्=ग्रहण होने के कारण, अनुपलब्धिः=उपलब्धि, न=नहीं है।

व्याख्या—दूध का नष्ट होना और दही का उत्पन्न होना यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसलिए, इसके कारण का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु, स्फटिक मेंपूर्व व्यक्ति का नाश और दूसरे व्यक्ति की उत्पत्ति का कोई लक्षण नहीं मिलता तो इसका अनुमान कैसे होगा ? इसलिए दूध-दही का दृष्टान्त यहां उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अगले सूत्र में इस पर पुनः शङ्का करते हैं—

न पयसः परिणामगुणान्तप्रादुर्भावात् ।१६।

सूत्रार्थ—पयसः=दूध के, परिणामगुणान्तरः=परिणाम में गुण का अन्तर, प्रादुर्भावात्=उत्पन्न होने से उक्त मान्यता, न=युक्ति सङ्गत सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—दूध का परिणाम दही है। परन्तु, परिणाम होने से पदार्थ का नाश नहीं होता केवल रूप परिवर्तन हो जाता है। इसलिए उक्त कथन ठीक नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम् पर्वद्रव्य-निवृत्तेरनुमानम् ।१७।

सूत्रार्थ—व्यूहान्तरात्=व्यूह के अन्तर से, द्रव्यान्तरोत्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रव्य में अन्तर की उत्पति का, दर्शनम्=दिखाई देना, पूर्वद्रव्य-निवृत्तेः=पूर्व द्रव्य की निवृत्ति का, अनुमानम्=अनुमान कराता है।

व्याख्या—जिन परमाणुओं से पूर्व देह बना, उसके निकलने पर, अन्य परमाणुओं का उनके स्थान में आ जाना एक प्रकार का नाश और उत्पत्ति समझी जायगी। इसी प्रकार दूध का नाश और दही की उत्पत्ति सिद्ध होती है। इससे परिणाम को उत्पत्ति और विनाश में बाधक नहीं कह सकते।

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चो-पलब्धेरनेकान्तः।१८।

सूत्रार्थ—क्वचित्-विनाश कारणानुपलब्धेः=कहीं विनाश कारण के उपलब्ध न होने और, क्वचिच्चोपलब्धेः=नहीं उपलब्ध होने से, अनेकान्त=अनेकान्त है।

व्याख्या—कहीं तो विनाश के कारण ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है और कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे घड़े में ईंट मार दें तो घड़ा फट जाता है, इसमें नाश का कारण ईंट मारना प्रत्यक्ष है। परन्तु दूध का दही बनने पर नाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए नाश को सिद्ध करने के लिए दूध दही का उदाहरण यहाँ अनेकान्त अर्थात् दोष रूप है।

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्।१९।

सूत्रार्थ—ज्ञानावस्थानात्=ज्ञान की अवस्थिति होने से, इंद्रि-यार्थयो=इन्द्रिय और उसके विषय का गुण, तद्विनाशे=उसके नष्ट होने पर, अपि=भी, न=नहीं रहता।

व्याख्या—ज्ञान इन्द्रि का गुण नहीं और न उसके विषय का ही गुण है। क्योंकि, इंद्रिय और विषयों के नष्ट होने पर भी ज्ञान विद्यमान रहता है। जैसे कोई व्यक्ति नेत्र हीन हो जाय तो उसे देखे हुए विषय की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

याद रहती ही है। अगले सूत्र में ज्ञान के मन का गुण होने का निषेध करते हैं—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ।२०।

सूत्रार्थ—युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः=एक समय में अनेक ज्ञान की उपलब्धि न होना, च=भी, यही सिद्ध करता है कि ज्ञान, न मनसः=मन का गुण नहीं है।

व्याख्या—एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने से ज्ञान को मन का गुण होना नहीं कहा सकते। यदि मन का गुण होता तो एक समय में ही अनेक ज्ञानों का अनुभव होना चाहिए था।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ।२१।

सूत्रार्थ—तदात्मगुणत्वे=उसके आत्मा का गुण होने पर, अपि=भी, तुल्यम्=दोष में समानता है।

व्याख्या—यदि ज्ञान को आत्मा का गुण माने तो भी नहीं मान सकते। क्योंकि, आत्मा तो सभी इन्द्रियों में व्याप्त हैं, इसलिये वैसा मानने पर भी एक समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा न होने से इसमें भी दोष प्रसङ्ग आता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ।२२।

सूत्रार्थ—इन्द्रियः=इन्द्रियों का, मनसः=मन के साथ, सन्निकर्ष=संयोग का, अभावात्=अभाव होने से, तदनुत्पत्तिः=उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

व्याख्या—जैसे गन्ध आदि गुण का ज्ञान इन्द्रिय और उसके विषय का संयोग होने पर होता है, वैसे ही विषय का ज्ञान कराने में इन्द्रिय और मन का संयोग भी आवश्यक होता है। ऐसा न होने पर किसी भी विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नोत्पत्तिकारणानुपदेशात् ।२३।

सूत्रार्थ--उत्पत्तिकारण=उत्पत्ति का कारण, अनुपदेशात् न कहा जाने से, न=उक्त हेतु नहीं बनता ।

व्याख्या--ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं कहा, इसलिए उक्त मान्यता ठीक नहीं । मन और इन्द्रियों को संयोग ज्ञान के उत्पन्न होने में निमित्त है, उपादान कारण नहीं है ।

विनाश कारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व प्रसङ्गः ।२४।

सूत्रार्थ--विनाश कारणनुपलब्धेः=विनाश कारण के न मिलने से, च=भी, अवस्थाने=स्थित होने पर,तन्नित्यत्वप्रसंग =उसके नित्य होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा ।

व्याख्या—आत्मा नित्य है, ज्ञान आत्मा का गुण है तो वह भी नित्य ही होगा और आत्मा के समान ही उसका भी सदा अवस्थित रहना स्वीकार करना पड़ेगा ।

अनित्यत्वाद् बुद्धे बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ।२५।

सूत्रार्थ—बुद्धेः=बुद्धि के, अनित्यत्वात्=अनित्य होने से बुद्धयन्तरात्=बुद्धि का अन्तर होने से उसका, शब्दवत्=शब्द के समान, विनाशः=विनाश माना जाता है ।

व्याख्या—यदि अनित्य है क्योंकि शब्दके ही समान वुद्धि की उत्पत्ति और विनाश के कारण देखे जाते हैं । जैसे पहले कहा हुआ शब्द नष्ट हो कर दूसरा शब्द उत्पन्न होता है वैसा ही पहला ज्ञान नष्ट होने पर दूसरे की उपलब्धि होती है । अब इस पर आक्षेप करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्नयुग-पदुत्पत्तिः ।२६।

सूत्रार्थ–ज्ञानसमवेतात्मप्रदेश=आत्मा के प्रदेश के साथ ज्ञान युक्त, सन्निकर्षात्=संयोग से, मनसः=मन के द्वारा, स्मृत्युत्पत्तेः स्मृति की उत्पत्ति होती है और, युगपदुत्पत्तिः=एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—आत्मा के संस्कारयुक्त प्रदेश के साथ मन का संयोग होने पर स्मृति उत्पन्न होती है। इसीलिए एक साथ अनेक ज्ञानों की उपलब्धि नहीं हो पाती।

अब इस पर शंका करते हैं–

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः। २७।

सूत्रार्थ—मनसः=मन के, अन्तः शरीर वृत्तित्वात्=भीतरी वृत्ति वाला होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—मन इस शरीर के भीतर रमण करता है। इसलिए वाह्य विषय ज्ञान का आत्म प्रदेशों साथ संयोग कहना युक्ति सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इस पर शङ्का करते हैं–

साध्यत्वादहेतुः ।२८।

सूत्रार्थ - साध्यत्वात्=साध्य होने से भी अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—मन शरीर के अन्तर में रमण करने वाला है, पहले यह बात सिद्ध हो तभी उस हेतु को मान सकते हैं।

इसका समाधान यह है–

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ।२९।

सूत्रार्थ—स्मरतः=स्मरण करने वाले का, शरीरधारणोप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पत्तेः=शरीस में धारण करना मिलने से, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या—स्मरण करने वाला जब किसी बात को याद करता है तो वह ठहरता-सा याद करने लगता है और उसका शरीर स्तब्ध सा हो जाता है। इससे मन का शरीर के भीतर स्थित होना सिद्ध होने से इस बात का विषेध नहीं हो सकता। इस पर पुनः आक्षेप करते हैं—

न तदाशुगतित्वान्मनसः ।३०।

सूत्रार्थ—तद् आशुगतित्वात् मनसः=मन के अत्यन्त शीघ्र गति वाला होने से, न=दोष प्रसङ्ग नहीं आता।

व्याख्या—मन अत्यन्त शीघ्रगामी है, इसलिए वह बाहर भीतर दोनों स्थानों पर हो सकता है। इसलिए मन के शरीर में भ्रमण करने वाले सिद्धान्त का निषेध करने में कोई दोई नहीं आता।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न स्मरणकालाऽनियमात्र ।३१।

सूत्रार्थ—स्मरणकालाऽनियमात्=स्महण काल के नियत न होने से, न=उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—कोई बात जल्दी की जाती है कोई देर से की जाती है। उसका समय निश्चित नहीं है। अनेक विषयों में ऐसा भी होता है कि लगा हुआ मन उन विषयों को याद नही कर पाता। यदि वह बहिर्गामी होता तो याद करने में उसे कोई कठिनाई नही होती। इसलिए उक्त कथन ठीक नही हैं।

आत्मप्रेरणायदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोग विशेषः ।३२।

सूत्रार्थ—आत्म प्रेरण=आत्मा की प्रेणणा, च=अथवा यदृ-च्छाज्ञताभिः अकस्मात् ज्ञान से, संयोग विशेषः=संयोग विशेष, न=नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—आत्मा की प्रेरणा या आकस्मिक ज्ञान से संयोग की विशेषता नहीं होगी। क्योंकि, या तो आत्मा स्वेच्छा से शरीर के बाहरवाले मन से संयोग करे, या अकस्मात् संयोग हो जाय, अथवा मन स्वयं ही ज्ञाता हो। परन्तु प्रेरणा से पहिले ही स्मृति हो जाय तो वह स्मृति नहीं कही जा सकती आकस्मिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा करने पर ही स्मरण होगा, और मन को ज्ञाता भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अचेतन और ज्ञान-रहित है। इसका निराकरण यह है।

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ।३३।

सूत्रार्थ—व्यासक्तमनसः=मन के अन्यत्र लगे होने पर, पादव्यथनेन=पाँव में काँटा चुभजाय तो उसे, संयोगविशेषेणसंयोग विशेष के, समानम्=समान समझना चाहिये।

व्याख्या—मन किसी विचार में मग्न हो, उस समय पांव में कांटा चुभे तो उसे तुरन्त दुःख का ज्ञान होता है। इससे मन और आत्मा के संयोग की विशेषता सिद्ध होती है।

प्रणिधानलिंगादिगज्ञानानमयुगपदभावाद् युगपदऽस्मरणम् ।३४।

सूत्रार्थ—प्रणिधान=चित्त की एकाग्रता और, लिङ्गादिज्ञानानाम्=लिंग आदि ज्ञानों के, युगपदभावात्=एक साथ न होने से, युगपदऽस्मरणम्=एक समय में ज्ञान नहीं होते।

व्याख्या—आत्मा और मन का संयोग स्मृतिके कारण होता है, उसी प्रकार चित्त की एकाग्रता और लक्षण आदि का ज्ञान भी कारण है। परन्तु वे ज्ञान के एक साथ नहीं होते, इसलिए स्मृतियां भी एक साथ नहीं हो सकतीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रातिभवत्तु प्रतिधानाद्यनपेक्षेस्मार्त्तेयौगपद्यः प्रसङ्गः ।३५।

सूत्रार्थ—प्रातिभवत्=प्रातिभ ज्ञान के समान, प्रणिधानाद्यनपेक्षे=जिनमें चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा नहीं है, उस, स्मार्ते=स्मार्त ज्ञान में तु=तो, यौगपद्यप्रसङ्गः=एक साथ अनेक ज्ञान का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

व्याख्या – बुद्धि की स्फूर्ति को प्रतिभा कहते हैं, उससे उत्पन्न ज्ञान 'प्रातिभा है। इसकी उत्पत्ति अकस्मात् हो जाती है। इसी प्रकार जिस ज्ञान में समाधान आदि की अपेक्षा नहीं, उसके आकस्मिक होने से तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष आ जायेगा।

ज्ञास्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्योः ।३६।

सूत्रार्थ—ज्ञास्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वात्=ज्ञाता को इच्छा और द्वेष का निमित्त होने से, आरम्भनिवृत्योः=उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति आत्मा के लिग हैं।

व्याख्या—ज्ञाता जिस वस्तु को सुख का कारण समझता है उसे पाने की इच्छा में प्रवृत्त होता है और जिसे दुःख का कारण मानता है उससे द्वेष करता अर्थात् निवृत्त होता है इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख और द्वेष यह छै लक्षण आत्मा के कहे गये हैं। इस पर शंका की जाती है।

तल्लि ङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ।३७।

सूत्रार्थ—इच्छाद्वेषयोः=इच्छा और द्वेष के, तल्लिगत्वात् =प्रवृत्ति और निवृत्ति के लक्षण रूप होने से, पार्थिवाद्येषु=, पर्थिव आदि में, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं होता है।

व्याख्या –प्रवृत्ति और निवृत्ति के लक्षण इच्छा और द्वेष हैं। यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोनों शरीर के मर्म हैं इसलिए पृथिवी आदि भूतों में निषेध नहीं मिलता अब इस पर आक्षेप करेंगे ।

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्ति दर्शनात् ।३८।

सूत्रार्थ—परश्वादिषु=फरसा आदि में, आरम्भनिवृत्तिः= आरम्भ और निवृत्ति के, दर्शनात्=देखे जाने से उक्त कथन अहेतु है ।

व्याख्या—कुठार आदि में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति पाई जाती है, परन्तु उनमें इच्छा, द्वेष नहीं होता । इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है ।

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ।३९।

सूत्रार्थ—कुम्भादिषु=कलश आदि में भी, अनुपलब्धेः= नहीं होने से, अहेतुः=यह अहेतु ही है ।

व्याख्या—कुठार आदि के समान कुम्भ आदि में भी ऐसा ही देखा जाता है । इसलिय भी उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता । अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं ।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ।४०।

सूत्रार्थ—तद्विशेषकौ=इच्छा और द्वेष का भेद, तु=तो, नियमानियमौ=नियम और अनियम हैं ।

व्याख्या—नियम और अनियम से इच्छा द्वेष का भेद सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि इच्छा, द्वेष, सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही चेतन और अचेतन का भेद जाना जाता है । इससे सिद्ध होता है कि इच्छा द्वेष से ही शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, इसलिए यह दोनों आत्मा के गुण हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥४१॥

सूत्रार्थ—यथोक्तहेतुत्वात्=उक्त हेतु के होने से, च=तथा पारतन्त्र्यात=मन के परतन्त्र होने से, और अकृताभ्यागमात् अकृत कर्म की प्राप्ति से इच्छा आदि, मनसः=मन के धर्म, न =नहीं है।

व्याख्या—ऊपर जो हेतु दिया है, उससे, मन के परतन्त्र होने और बिना कर्म के ही प्राप्ति होने से भी इच्छा आदि को मन के धर्म नहीं मान सकते। इस सूत्र में 'मन' पद के शरीर, इंद्रिय और मन तीनों का ही ग्रहण होता है।

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ।४२।

सूत्रार्थ—परिशेषादि=परिशेष आदि, यथोक्तहेतुः=यथोक्त हेतुओं की, उपपत्तेश्च=उपपत्ति होने से भी इच्छा आदि आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं।

व्याख्या—मन इंद्रिय और शरीर अचेतन हैं, इसलिए इच्छा आदि उनके धर्म नहीं हो सकते। क्योंकि, जो वस्तु स्वयं जड़ हैं, उसमें इच्छा आदि की प्रवृत्ति कहां से आई? अतः इच्छा आदि आत्मा के धर्म हैं, यही मानना ठीक है।

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ।४३।

सूत्रार्थ—आत्मनोज्ञस्वाभाव्यात्=आत्मा का ज्ञातारूप स्वभाव होने से, स्मरण तु=स्मरण भी उसी का धर्म है।

व्याख्या—जानना ज्ञाता का स्वभाव है और ज्ञाता आत्मा ही है। इसलिये स्मरण करना भी आत्मा का ही धर्म है। क्योंकि स्मृति चेतन आत्मा आत्मा में ही उत्पन्न हो सकती है, जड़ में नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिंगलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ।४४।

सूत्रार्थ—प्रणिधानादि=प्रणिधान निबन्ध, अभ्यास, लिंग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एक काय, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्मअधर्म यह सब स्मृति के कारण हैं।

व्याख्या—प्रणिधान अर्थात् मन को किसी एक विषय में लगा होना, निबन्ध अर्थात् अनेक अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना, लिङ्ग अर्थात् धूप को देखने से अग्नि का स्मरण करना, लक्षण सादृश्य आदि २७ कारणों से स्मृति की उत्पत्ति होती है।

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ।४५।

सूत्रार्थ—अनवस्थायि=अनवस्थायी, कर्मणः=कर्म के, ग्रहणात्=ग्रहण से भी बुद्धि का उत्पन्न होना और नष्टहोना पाया जाता है

व्याख्या—प्रत्येक विषय से लिए बुद्धि नियत है, जिस विषय का सम्बन्ध जब तक बुद्धि के साथ रहेगा, तभी तक उस विषय की स्मृति रहेगी, बाद में नहीं। इसलिए बुद्धि का अनित्यत्व सिद्ध है।

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यऽभावः ।४६।

सूत्रार्थ—बुद्ध्यवस्थानात्=बुद्धि के अवस्थित रहने से, प्रत्यक्षत्वे=प्रत्यक्ष होने पर, स्मृत्यऽभावः=स्मृति का अभाव मिलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—यदि बुद्धि को स्थिर माने तो सभी देखे गए पदार्थ प्रत्यक्ष रहने चाहिये और प्रत्येक पदार्थ प्रत्यक्ष रहेंगे तो स्मृति किस वस्तु की वस्तु होगी। इससे भी बुद्धि का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपा-ऽव्यक्तग्रहणवत् ।४७।

सूत्रार्थ—अनवस्थायित्वात्=अनवस्थायी होने से, विद्युत्सम्पाते=बिजली गिरने पर, रूपाऽव्यक्त ग्रहणवत्=उसका अस्पष्ट रूप ग्रहण किये जाने के समान अव्यक्तग्रहणम्=ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होता है।

व्याख्या—यदि बुद्धि को उत्पन्न और नष्ट होने वाली मानें तो उनसे ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं होगा। जैसे विद्युत गिरने के समय अस्थिर प्रकाश के रूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, वैसे ही बुद्धि के अस्थिर होने पर किसी भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ।४८।

सूत्रार्थ—हेतूपदानात्=हेतू के उपादान से, प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा=प्रतिषेध अर्थ का अङ्गीकार है।

व्याख्या—विद्युत के दृष्टान्त रूप हेतु से ही बुद्धि की स्थिरता सिद्ध हो गई। क्योंकि बिजली की अस्थायी चमक से बिजली की ही अस्थिरता सिद्ध होती है। इस प्रकार प्रतिवादी के हेतु से ही बुद्धि का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता।

प्रदीपार्चिचः सन्तत्यऽभिव्यक्त ग्रहणवत्तद् ग्रहणम् ।४९।

सूत्रार्थ—प्रदीपार्चिचः=दीपक की ज्योति, सन्तत्यऽभिव्यक्त ग्रहवात्=लगातार स्पष्ट ग्रहण के समाम, तद्गृहणम्=उसका भी ग्रहण है।

व्याख्या—यदि बिजली की अस्थिरता वाली उपमा को छोड़ दें तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीपक के समान व्यक्त रूप मानने पर भी स्थिर होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि दीपक की लौ लगातार उत्पन्न होती है और नष्ट होती रहती है, वैसे ही वुद्धि को समझना चाहिए।

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ।५०।

सूत्रार्थ--द्रव्ये=द्रव्य में, स्वगुण परगुणोलब्धेः=स्वगुण और परगुण की उपलब्धि होने से, संशयः=इसमें संदेह होता है।

व्याख्या—द्रव्य में स्वगुण और पराये गुण दोनों ही मिलते हैं। जैसे जल द्रव्य है, उसमें जल का गुण रसत्व तो मिलता ही है, परन्तु यदि वह उष्ण हो तो उसमें उष्णता अग्नि का गुण होगा। इस प्रकार शरीर को चेतना आत्मा है, वह अपना गुण है या पराया यह शङ्का होती है।

अब इसका समाधान करते हैं–

यावच्छरीर भावित्वाद् रूपादीनाम् ।।५१।।

सूत्रार्थ—यावच्छरीर भावित्वाद् जव शरीर का अस्तित्व है तव तब तक, रूपादीनाम्=रूप आदि का उपलब्धि होती है।

व्याख्या—जव तक शरीर है, तव तक रूप आदि की उपलब्धि है। शरीर नहीं रहता, तव रूप ही नहीं रहता। इससे चेतनत्व शरीर का गुण नहीं है।

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ।५२।

सूत्रार्थ—पाकज गुणान्तरोत्पत्तेः=पके हुये से गुणों के अन्तर की उपलब्धि होने से उपर्युक्त कथन, न=ठीक नहीं है।

व्याख्या—पाक से उत्पन्न अन्य गुण की उत्पत्ति पायी जाने से उक्त धारणा उचित नहीं। क्योंकि, पकाने पर वस्तु का रङ्ग वदला जाता है। अथवा जो गुण पकाने से पहिले होते हैं, उन गुणों में पकाने के वाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तर पड़ जाता है इसी प्रकार शरीर में भी जैसे-जैसे परिपक्वता आती जाती है, चेतनता बढ़ती जाती है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे।

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेध ।५३।

सूत्रार्थ—प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः=विरोधी गुणों की सिद्धि होने पर, पाकजानाम्=पाकजों का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—पकने पर जो गुण उत्पन्न होते हैं वह पहले गुणों से भिन्न होते हैं। जो गुण बीज में होता है, वह पके हुए फलों में नहीं होता। अग्नि पर पकने से भी विटामिनी-तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्व गुणों से पाचज गुण मिलते नहीं। परन्तु शरीर में तो चेतनता का विरोधी कोई गुण है नहीं और चेतनता भी शरीर का गुण नहीं है। क्योंकि मरने पर शरीर तो रहता है. परन्तु चेतनता चली जाती है।

शरीरव्यापित्वात् ।५४।

सूत्रार्थ—शरीरव्यापित्वात्=शरीरव्यापी होने से भी चेतनता शरीर का गुण नहीं है, यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—चेतनता शरीर में व्याप्त रहती है। यदि कहें कि शरीर के प्रत्येक भाग में अलग-अलग चेतना है तो ऐसा मानने से एक शरीर में अनेक चेतन होने से, उनका ज्ञान भी अलग-अलग होगा। परन्तु ऐसा न होने से चेतनता को शरीर का धर्म नहीं मान सकते।

अगले सूत्र में इसका विरोध करते हैं।

केश नखादिष्वनुपलब्धेः ।५५।

सूत्रार्थ—केशनखादिषु=बालों और नाखूनों में, अनुपलब्धेः चेतनता की उपलब्धि नहीं होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—चेतना को शरीर भर में व्याप्त कहना मिथ्या है। क्योंकि वाल और नख में चेतनता है ही नहीं।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे।

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ।५६।

सूत्रार्थ—शरीरस्य=शरीर के त्वक्पर्यन्तत्वात् = त्वचा तक होने से, केशनखादि=बाल और नाखूनों का, अप्रसङ्गः= प्रसंग ही नहीं है।

व्याख्या—शरीर में चेतनता त्वचा तक ही आती है, बाल और नाखून शरीर में नहीं आते। क्योंकि चेष्टा और इन्द्रियों के आश्रय को शरीर कहा है। बाल और नख में न तो चेष्टा है और न यह कोई इन्द्रिय ही हैं। इसलिए इन्हें शरीर के अन्तर्गत मानना ठीक नहीं।

शरीर गुणवैधर्म्यात् ।५७।

सूत्रार्थ—शरीरगुण=शरीर गुणों के साथ, वैधर्म्यात्= विरूपता होने से भी यही मानना उचित है।

व्याख्या—शरीर के गुण दो प्रकार के हैं—एक तो रूप आदि जो दिखाई पड़ते हैं और दूसरे गुरुत्व, चेतना आदि जो दिखाई नहीं देते। यह दोनों प्रकार के गुण परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं। इसलिए चेतन को शरीर का गुण नहीं मान सकते।

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यान् ।५८।

सूत्रार्थ—रूपादीनाम्=रूप आदि का, इतरेतर=पारस्परिक, वैधर्म्यात्=विरुद्ध लक्षण होने से भी शरीर का गुण चेतन को नहीं मान सकते।

व्याख्या—यह कथन कि मनुष्य में पाई जाने वाली चेतना शरीर के रूप आदि गुणों से भिन्न है इसलिये उसे शारीरिक गुण नहीं माना जा सकता, ठीक नहीं है। शरीर का वर्ण, सौन्दर्य, वजन भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परस्पर भिन्न है, फिर भी उनको एक ही शरीर के गुण माना जाता है। तब यदि चेतना को भी भिन्नता होते हुए अन्य गुणों की तरह शरीर का गुण मान लिया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है? आगे इसका समाधान करते हैं।

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ।५९।

सूत्रार्थ--ऐन्द्रियकत्वात्=इन्द्रियों से ग्रहणीय होने से, रूपादीनाम्=रूप आदि का शरीर के गुण होने का, अप्रतिषेधः =निषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या—शरीर के सभी गुण इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं। एक ही शरीर में रहने और इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने से रूप आदि सजातीय गुण हैं, इसलिए वही शरीर के गुण हो सकते हैं। चेतनना शरीर का गुण नहीं है।

ज्ञानायौगपद्यदेकं मनः ।६०।

सूत्रार्थ--ज्ञानायौगपद्यात्=ज्ञानों के एक काल में न होने से, एकं मन=मन एक ही है।

व्याख्या—एक समय में अनेक ज्ञानों की उपलब्धि नहीं पायी जाती। इससे सिद्ध होता है कि मन एक ही है। यदि मन अनेक होते तो एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते। परन्तु, ऐसा न होने से मन का एक होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ।६१।

सूत्रार्थ--युगपत्=एक समय में, अनेकक्रियोपलब्धेः=अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—एक साथ अनेक ज्ञान ही नहीं, अनेक क्रियायें भी होती देखते हैं। एक पुरुष रास्ते में चलता हुआ समाचार पत्र पढ़ता है, शब्द सुनता, लोगों से बात करता है। तिराहा या चौराहा आने पर 'किधर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चलना' है, यह भी सोचता है। इस प्रकार अनेक विचार और क्रियायें एक साथ करता है। इससे मन को एक बताना ठीक नहीं है।

अब इसका समाधान करते हैं—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ।६२।

सूत्रार्थ—अलात चक्र=आतिशबाजी को चर्खी के दर्शन-वत्=देखने के समान, आशुसंचारात्=द्रुतवेग से चलने जैसी ततुपलब्धिः=उसकी प्राप्ति है।

व्याख्या—जैसे बहुत तेजी से चलने वाली आतिशबाजी की चर्खी क्रम-पूर्वक चलती भी, अपनी शीघ्र गति के कारण एक साथ घूमती-सी दिखाई देती है और उसका क्रमपूर्वक चलना नहीं जाना जाता, वैसे ही मन के भी शीघ्रगामी होने से उसका क्रम दिखाई नहीं देता। इससे यही मानना ठीक है कि सब कार्य क्रमपूर्वक होते हैं, एक साथ नहीं होते।

यथोक्त हेतुत्वाच्चाणु ।६३।

सूत्रार्थ—यथोक्त हेतुत्वात्=उक्त हेतु होने से, च=भी, अणु=मन का अणु होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक समय में अनेक ज्ञान न होने से, यह भी सिद्ध होता है कि मन व्यापक नहीं अणु है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।६४।

सूत्रार्थ—पूर्व=पूर्व जन्म में, कृत=किये कर्म के, फलानु-बन्धात्=फलों के अनुबन्ध से, तदुत्पत्तिः=उस शरीर की उत्पत्ति है।

व्याख्या—पूर्व जन्म में जो कर्म किये जाते हैं, उनके धर्म-अधर्म रूप संस्कारों की प्रेरणा से इस शरीर की उत्पत्ति होती है। क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीर प्राप्त करते ही भोग का आरम्भ हो जाता है, जो विना निमित्त के हो नहीं सकता। इससे पंचभूतों को इसका उपादान कारण समझना चाहिए निमित्त कारण नहीं।

इस पर शङ्का करते हैं।

भूतेभ्योमूर्त्युपादानवत्तदुत्पत्तिः ।६५।

सूत्रार्थ—भूतेभ्यो=भूतों की, मूर्ति=मूर्ति से, उपादान-वत्=उत्पन्न होने के समान, तदुत्पत्तिः=उसकी उत्पत्ति है।

व्याख्या—जैसे, भूतों से कर्म निरपेक्ष मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा इन पदार्थों की मूर्तियाँ बनती हैं, वैसे ही शरीर भी उन्हीं भूतों से वन सकता है ? तव शरीर को कर्म-फल से उत्पन्न मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न साध्यसमत्वात् ।६६।

सूत्रार्थ—साध्यसमत्वात्=साध्यसम होने से, न=उक्त दृष्टान्त युक्ति-सङ्गत नहीं है।

व्याख्या—जैसे, कर्म के बिना शरीर की उत्पत्ति साध्य है, वैसे ही कर्म निरपेक्ष मिट्टी पत्थर आदि की उत्पत्ति साध्य है। इसलिए साध्यसम होने से उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है।

इस पर फिर आक्षेप करते हैं—

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ।६७।

सूत्रार्थ—मात-पित्रोः=मातापिता के, निमित्तत्वात्=निमित्त होने से, उत्पत्ति=शरीर का उत्पन्न होना कर्म निमित्त, न=नहीं मान सकते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—माता-पिता के रज-वीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है तो कर्म को निमित्त मानने की क्या आवश्यकता है ?

तथाऽऽहारस्य ।६८।

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, आहारस्य=आहार के द्वारा होने से भी कर्म निमित्त नहीं हो सकता।

व्याख्या—मता-पिता आहार भी उत्पत्ति का कारण है। इसलिये कर्म को उत्पत्ति का कारण मानना निरर्थक है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते है—

प्राप्तौ चानियमात् ।६९।

सूत्रार्थ—प्राप्तौ=प्राप्ति में, च=भीं, अनियमात्=नियम न होने से उक्त कथन मान्य नहीं है।

व्याख्या—यदि रज, वीर्य और आहार को उत्पत्ति का कारण मानें तो स्त्री पुरुष का प्रत्येक संयोग गर्भाधान का कारण हो जाता। परन्तु ऐसा न होने से प्रारब्ध कर्म को ही इसका कारण मानना ठीक हैं।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तंकर्म ।७०।

सूत्रार्थ=शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्=शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म होने के समान, संयोगोत्पत्तिनिमित्तम्=संयोग की उत्पत्ति का निमित्त, कर्म=कर्म है।

व्याख्या—शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है, उसी प्रकार संयोग को उत्पन्न करने वाला भी कर्म ही है।

ऐतेनानियमः प्रत्युक्तः ।७१।

सूत्रार्थ—एतेन=इससे, अनियमः=अनियम का, प्रत्युक्तः=खण्डन होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—सृष्टि की रचना में नियम देखा जाता है, यदि इसका रचयिता कोई चेतन न होता तो चाहे जिसकी उत्पत्ति चाहे जिससे हो जाती। इससे सिद्ध हुआ कि वृष्टि रचना में अनियम नहीं है।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ।७२।

सूत्रार्थ—कर्मक्षयोपपत्ते=कर्मक्षय की उत्पत्ति होने से, उपपन्श्च-तद्वियोग:=आत्मा का शरीर से वियोग होता है।

व्याख्या—कर्म के नाश हो जाने पर शरीर से आत्मा निकल जाती है। अर्थात् जब भोगते-भोगते कर्म शेष नहीं रहते तब उनका क्षय माना जाता है और आत्मा शरीर को त्याग देता है।

इस पर शंका करते है—

तदहृष्टकारितमिति चेत्मुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्ग ।७३।

सूत्रार्थ—तदहृष्टकारितमित=उसको अहृष्टकारित मानने से, चेत्मुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे=मोक्ष में भी उसका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—शरीर की उत्पत्ति का कारण अहृष्ट को मानें तो मुक्तात्माओं के शरीर की भी उत्पत्ति माननी होगी। इसमें मुक्त-वद्ध आत्माओं में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ।७४।

सूत्रार्थ—करणाकरणयो:=करण और अकरण की, आरम्भ-दर्शनात्=उत्पत्ति देखी जाने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—वद्ध आत्मा कर्म करता है, मुक्तात्मा नहीं करता इस प्रकार करना और न करना दोनों ही देखे जाते हैं, तब तत्व ज्ञान की उप-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लब्धि पर कर्म का त्याग करने से मुक्तात्मा बन्धन में नहीं पड़ सकता। इसलिये उक्त मान्यता ठीक नहीं है।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ।७५।

सूत्रार्थ—मनः कर्मनिमित्वात्=मन का कर्म के निमित्त होने से, संयोगानुच्छेदः=संयोग का क्रम नहीं टूटता है।

व्याख्या—यदि अदृष्ट कर्म को मन का निमित्त मानें तो संयोग की समाप्ति ही न होगी। अर्थात् शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ही न टूटेगा। मन ही शरीर और आत्मा के संयोग का कारण है। परन्तु, मन का इन्द्रियों से संयोग सदा नहीं रह सकता। इससे मन का गुण होना सिद्ध नहीं होता।

नित्यत्वप्रसंगश्च प्रयाणानुपपत्तेः ।७६।

सूत्रार्थ—च=और, प्रयाणानुपपत्तेः=मरण की अनुपपत्ति से, नित्यत्व प्रसंग=संयोग का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि कर्म के बिना, भूतों से शरीर का उत्पन्न होना मानें तो कर्म के नाश न होने से फिर किसके नाश से शरीर और आत्मा का वियोग होगा ? इससे शरीर का नित्य होना सिद्ध हो जायेगा।

इस पर शंका करते हैं—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ।७७।

सूत्रार्थ—अणुश्यामतानित्यत्ववत्=अणु के श्याम होने आदि के समान, एतत्स्यात्=यह भी होगा।

व्याख्या—जैसे परमाणुओं में श्यामता नित्य है, परन्तु वह अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाती है वैसे ही मुक्तावस्था प्राप्त आत्माओं का उत्पन्न होना नष्ट हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त आत्मायें पुनः जन्मधारण नहीं करतीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं —

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ।७८।

सूत्रार्थ—अकृताभ्यागमः=अकृताभ्यागम के, प्रसङ्गात्= प्रसङ्ग से, न=उक्त कथन युक्तसङ्ग नहीं है ।

व्याख्या—परमाणुओं के श्यामत्व के नित्य होने के पक्ष में कोई प्रमाण न होने से, कर्म फल नाश की सिद्धि में उसका दृष्टान्त ठीक नहीं है । यदि इसे ठीक मानें तो बिना कर्म के ही दुःख-सुख रूप फल को मानना होगा । परन्तु बिना किये फल भोगना कहाँ का न्याय है ? इससे सिद्ध होता है कि बिना किए ही भोग प्राप्ति का प्रसंग अनुमान, प्रमाण कारण मानना चाहिए ।

॥ तृतीयाऽध्यायः—द्वितीयान्हिकः समाप्तः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थोऽध्यायः--प्रथमाह्निकम्

इस अध्याय में प्रवृत्ति आदि ६ प्रमेयों की परीक्षा करेंगे। पहले अगले सूत्र में प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ।१।

सूत्रार्थ— प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति का, यथोक्ता=निरूपण करते हैं।

व्याख्या—मन, वाणी, शरीर से किसी कार्य को आरम्भ करना प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्त को सभी मानते हैं।

तथा दोषाः ।२।

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, दोषाः=दोष है।

व्याख्या—जैसे प्रवृत्ति सर्वसम्मत है, वैसे ही उसके दोष भी सर्वसम्मत हैं।

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ।३।

सूत्रार्थ—तत्=उन दोनों में, रागद्वेषमोहार्थान्तर भावात् =अवान्तर भेद से, राग, द्वेष और मोह, त्रैराश्यम्=यह तीन राशियाँ अर्थात् समूह है।

व्याख्या—दोष के तीन भेद हैं—राग, द्वेष और मोह। इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद होने से इन्हें समूह करते हैं। जैसे राग के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, दम्भ, लोभ आदि दोष के अन्तर्गत क्रोध ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान तथा मोह के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संशय, मान, प्रमोद, भय और शोक आदि हैं। इनमें राग से प्रवृत्ति, द्वेष से क्रोध और मोह से मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अगले सूत्र में इस पर आक्षेप करते हैं—

नैकप्रत्यनीकाभावात् ।४।

सूत्रार्थ—एकप्रत्यनीक भावात्=एक के विरोध होने से रागादि का भिन्न होना, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—एक तत्व-ज्ञान राग, द्वेष और मोह का विरोध है। इसलिए इसके तीन भेद नहीं माने जा सकते। ऐसा मानें तो इनके प्रतिद्वन्दी भी तीन होने चाहिए। परन्तु तत्वज्ञान, जो इनका प्रतिद्वन्दी है, वह एक है। इसलिए उक्त कथन अमान्य है।

अब इसका उत्तर देते हैं—

व्यभिचारादहेतुः ।५।

सूत्रार्थ व्यभिचारात्=व्यभिचार दोष होने से उक्त हेतु, अहेतुः=मान्य नहीं है।

व्याख्या—उपर्युक्त हेतु सदोष है। क्योंकि काले, हरे, पीले आदि रङ्गों का विरोधी एक अग्नि है, जो उन सबको जलाकर नष्ट कर देता है। इसी प्रकार एक तत्वज्ञान भी राग, द्वेष मोह का नाश करने में समर्थ है।

तेषां मोहः पापीयन्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।६।

सूत्रार्थ—तेषाम्=उनमें, मोहः=मोह, पापीयान्=अत्यन्त पापी है, क्योंकि, अमूढस्य=मोह-विहीन पुरुष को, इमरोत्पत्तेः =राग, द्वेष की उत्पत्ति, न=नहीं होती है।

व्याख्या—मोह सभी दोषों का मूल है। जिसे मोह नहीं होता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसे राग, द्वेष भी नहीं होते । इससे मोह ही सबसे बड़ा पापिष्ठ एवं मनुष्य का शत्रु होना सिद्ध होता है । इसमें आक्षेप यह है—

प्राप्तिस्तर्हिनिमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तर-
भावो दोषेभ्यः : ।७।

सूत्रार्थ—निमित्तनैमित्तिकभावात्=कार्य-कारण भाव होने से, दोषेभ्यः=दोषों में, अर्थान्तर भावः=अर्थान्तर भाव की, प्राप्तिस्तर्हिः=प्राप्ति का होना सिद्ध होगा ।

व्याख्या—जब मोह अन्य दोषों की उत्पत्ति का कारण है तो कार्य-कारण भाव मानना होगा, जो कि द्वेषादि से भिन्न है । क्योंकि कारण कार्य नहीं हो सकता । इसलिए मोह को दोषों का कारण मानना ठीक है

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ।८।

सूत्रार्थ—मोहस्य=मोह के, दोषलक्षण अवरोधात्=दोष लक्षण में अवरोध होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है ।

व्याख्या—मोह में दोष के लक्षण हैं, इसलिए मोह और दोष में कुछ अन्तर नहीं है । मोह, दोष की प्रवृत्ति का कारण होने से स्वयं दोष ही है ।

अगले सूत्र में कार्य-कारण भाव का समाधान करते हैं—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानाम-
प्रतिषेधः ।९।

सूत्रार्थ—च=और, तुल्याजातीयानाम्=तुल्य जाति वाले द्रव्यों में, निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः=कारण और कार्य भाव की उपपत्ति से, अप्रतिषेधः=अप्रतिषेध नहीं होगा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—समजातीय द्रव्यों में अनेक प्रकार से कार्य-कारण भाव मिलता है। जैसे जल, पृथिवी का कारण है, और तेज का कार्य है, परन्तु इस कार्य-कारण भाव से भी इनके समान जातीय होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। वैसे ही मोह के राग द्वेष का कारण होने से भी उसके दोषमय होने में कोई बाधा नहीं आती।

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धि ।१०।

सूत्रार्थ—आत्मनित्यत्वे=आत्मा के नित्यत्व से, प्रेत्यभाव सिद्धिः=प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

व्याख्या—आत्मा के नित्य होने पर ही उसका पुनर्जन्म धारण करना सिद्ध होता है। यदि आत्मा नित्य न हो तो पुनर्जन्म होगा ही कैसे ? इससे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है वही पुनर्जन्म ग्रहण करती है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे—

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ।११।

सूत्रार्थ—व्यक्ताद्व्यक्तानाम्=व्यक्त से व्यक्त का उत्पन्न होना, प्रत्यक्षप्रामाण्यात्=प्रत्यक्ष रूप से प्रामाणिक है।

व्याख्या—व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखते हैं। मिट्टी से घड़ा, धागों से वस्त्र बनते हुए देखा ही जाता है। इससे सिद्ध है कि सजातीय कारण से सजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है। इस पर वादी आक्षेप करता है—

न घटाद् घटाऽनिष्पत्तेः ।१२।

सूत्रार्थ—घटात्=घड़े से, घटाऽनिष्पत्तेः=घड़ा उत्पन्न होता हुआ, न=नहीं देखते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—सजातीय से सजातीय का उत्पन्न होना तब होता जब घड़े से घड़ा उत्पन्न हो जाता। इससे सिद्ध हुआ कि अणु के महान् की उत्पत्ति होती है। इसलिए व्यक्त का कारण व्यक्त नहीं हो सकता।

अगले सूत्र में इनका समाधान करते हैं—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ।१३

सूत्रार्थ--व्यक्तात्=व्यक्त से, घटनिष्पत्तेः=घड़े की उत्पत्ति का, अप्रतिषेधः=नहीं होता।

व्याख्या—हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सब जगह व्यक्त से ही व्यक्त उत्पन्न होता है। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि जो व्यक्त उत्पन्न होता है, वह अपने सजातीय द्रव्य से ही होता है। क्योंकि, मिट्टी भी व्यक्त है, वह घड़ा भी व्यक्त है, तो व्यक्त से घड़े की उत्पत्ति का निषेध नहीं होता। इस पर पुनः आक्षेप है—

अभावाद् भावोप्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।१४।

सूत्रार्थ—नानुपमृद्य=बीज का नाश होने पर, प्रादुर्भावात् =अंकुर की उत्पत्ति होती है, इससे, अभावाद्भावोत्पत्तिः= अभाव से भाव का उत्पन्न होना सिद्ध है।

व्याख्या—जब बीज गलकर नष्ट हो जाता है तभी उसमें से अंकुर फूटता है। इससे सिद्ध होता है अभाव से भाव उत्पन्न होता है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

व्याघातादप्रयोगः ।१५।

सूत्रार्थ--व्याघातात्=व्याघात होने से, अप्रयोगः=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—बीज नष्ट होने पर अंकुर उत्पन्न होना कहा गया है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह ठीक नहीं है। क्योंकि उसमें व्याघात दोष मिलता है। बीज के गलने से उसका अभाव नहीं होता। यदि अभाव से उत्पत्ति होती तो बीज के गलने की आवश्यकता ही न होती। इससे, अभाव से भाव का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता।

इस पर पुनः आक्षेप करते हैं—

नातीतानागतयोः कारकशब्द प्रयोगात् ।१६।

सूत्रार्थ—नतीतानागतयोः=अतीत और अनागत में, कारक-शब्द प्रयोगात्=कारक शब्द के प्रयोग होने से, उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—बीते हुए और होने वाले अर्थात् अविद्यमान में कारक शब्द का प्रयोग होता है। जैसे घड़ा मौजूद था, पुत्र उत्पन्न होगा आदि शब्द बहुधा कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं।

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ।१७।

सूत्रार्थ—विनष्टेभ्यः=नष्ट हुए बीज से, अनिष्यन्तेः=अंकुर की उत्पत्ति न होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—नष्ट हुए बीज से पौधा उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसकी अवस्था में अन्तर आ जाने पर बीज की उत्पत्ति होती है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति न होना सिद्ध है।

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ।१८।

सूत्रार्थ—क्रमनिर्देशात्=निर्दिष्ट क्रम से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या—बीज के गलने और अंकुर निकलने का जो कार्य है, उसे क्रम से कहेंगे। क्योंकि बीज के गलने पर अंकुर उत्पन्न होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसमें बीज नष्ट नहीं होता, परन्तु अवस्था मात्र बदलती है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति न होना सिद्ध है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।१९।

सूत्रार्थ—पुरुष=पुरुष के, कर्मफल्यदर्शनात्=कर्म की विफलता देखकर, इश्वरः=ईश्वर का, कारणम्=कारण होना सिद्ध है।

व्याख्या—पुरुष जिस प्रयोजन से उद्योग करता है, उसका यह प्रयोजन सफल नहीं होता, अथवा यों कहिये कि जो कार्य मनुष्य करता है, उसका इच्छानुसार फल नहीं मिलता। इससे समझना चाहिये कि मनुष्य फल प्राप्ति में पराधीन हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि ईश्वर ही उसका कारण है इस पर अन्य मत है—

न पुरुषकर्माऽभावे फलानिष्पत्तेः ।२०।

सूत्रार्थ—पुरुषकर्माऽभावे=पुरुष के कर्म के अभाव में, फलानिष्पत्तेः=फल की निष्पत्ति नहीं होती, न=इसलिये भी उक्त धारणा ठीक नहीं है।

व्याख्या—यदि मनुष्य कर्म न करें तो उसे किसी प्रकार के फल को प्राप्ति नहीं होती। यदि फल देना ईश्वराधीन होता तो पुरुषार्थ के बिना भी कार्य सिद्धि हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा न होने से उक्त कथन प्रमाणित नहीं होता।

अब, सूत्रकार इसका समाधान करेंगे—

तत्कारित्वादहेतुः ।२१।

सूत्रार्थ—तत्कारित्वात्=ईश्वर के कारित होने से, अहेतुः =उक्त युक्ति अयुक्त है।

व्याख्या—ईश्वर की प्रेरणा के बिना कर्म का फल नहीं मिल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता। क्योंकि, कर्म जड़ है और वह स्वयं फल निष्पत्ति में समर्थ नहीं है। इस पर अन्य आक्षेप है—

अनिमित्ततोभावोत्पत्तिःकण्टक तैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ।२२।

सूत्रार्थ—अनिमित्ततः=अनिमित्त से, भावोत्पत्तिः=भावों की उत्पत्ति होती है, कंटक तैक्ष्ण्यादि=कांटों में तीखापन, दर्शनात्=देखने से यही मानना ठीक है।

व्याख्या—कांटों में नोक स्वभाव से ही होती हैं, उसे कोई बनाता नहीं। इससे जान पड़ता है पदार्थों की उत्पत्ति बिना निमित्त के हो जाती है। अब, इस पर आक्षेप करते हैं—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नऽनिमित्ततः ।२३।

सूत्रार्थ—अनिमित्तनिमित्तत्वात्=अनिमित्त के निमित्त होने से, अनिमित्ततः=अनिमित्त से उत्पत्ति, न=नहीं होती।

व्याख्या—जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त है। यदि अनिमित्तनिमित्त से उत्पत्ति होती यो उसका कारण भी अनिमित्त ही होगा। परन्तु, अनिमित्त से उत्पत्ति नहीं हो सकती, यही सिद्ध है।

इस पर सूत्रकार कहते हैं—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ।२४।

सूत्रार्थ—निमित्तानिमित्तयोः=निमित्त और अनिमित्त के, अर्थान्तरभावात्=भिन्न होने से,अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—निमित्त और अनिमित्त एक दूसरे के विपरीत हैं। निमित्त अनिमित्त नहीं हो सकता और अनिमित्त निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कोई वस्तु अपना स्वयं खण्डन नहीं कर सकती। जो स्वयं भाव है उससे अभाव की उत्पत्ति संभव नहीं। इससे उक्त हेतु सिद्ध नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ।२५।

सूत्रार्थ—उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्=उत्पत्ति और नाश धर्म वाला होने से, सर्वमनित्यम्=सब अनित्य है ।

व्याख्या—जो वस्तु विनाश धर्मवाली है वह अनित्य कही जाती है और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते हैं, इसलिये वे सभी अनित्य हैं । इस पर आक्षेप है–

नाऽनित्यतानित्यत्वात् ।२६।

सूत्रार्थ—अनित्यतानित्यत्वात्=अनित्यता के नित्य होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं ।

व्याख्या– उपर्युक्त सूत्र में सब वस्तुओं को अनित्य कहा है इससे अनित्यता का नित्य होना सिद्ध होता है । इस प्रकार अनित्यता नित्य है तो अनित्य कुछ भी नहीं होगा ।

अगले सूत्र में इस पर भी आक्षेप करते हैं–

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ।२७।

सूत्रार्थ—अग्नेर्दाह्यम्=अग्नि के दाह्य का, विनाश्यानुविनाशवत्=नाश करके स्वयं नष्ट हो जाने के समान, तदनित्यत्वम्=उसका भी अनित्य होना सिद्ध है ।

व्याख्या—जैसे अग्नि की ज्वाला ईंधन आदि को जलाकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही अनित्यता सब पदार्थों को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जती है ।

इस पर सूत्रकार द्वारा समाधान हैं–

नित्यस्याऽप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ।२८।

सूत्रार्थ—यथोपलब्धिव्यवस्थानात्=उपलब्धि और व्यवस्थान से, नित्यस्य=नित्य का, अप्रत्याख्यानम्=खण्डन नहीं हो सकता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या - नित्य वस्तुओं का खण्डन करना ठीक नहीं क्योंकि परीक्षा करने पर नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि अनित्य और आकाश, काल, आत्मा आदि नित्य हैं। इसका खण्डन नहीं हो सकता। इस पर अन्य आक्षेप यह हैं।

सर्वनित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ।२९।

सूत्रार्थ—पंचभूतनित्यत्वात्=पंच भूतों के नित्य होने से, सर्व नित्य=सभी पदार्थों का नित्यत्व सिद्ध है।

व्याख्या—पञ्चभूत नित्य हैं, इनका नष्ट होना सिद्ध नहीं होता और पञ्चभूत सबके कारण हैं तो कारण के नित्य होने से उसके सभी कार्यों का नित्य होना सिद्ध होता हैं। इसका उत्तर देते हैं।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।३०।

सूत्रार्थ—उत्पत्तिविनाशकाणोपलब्धेः=उनके उत्पत्ति और विनाश के कारण मिलने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं।

व्याख्या—घड़ा आदि पदार्थों को बनते और टूटते हुए प्रायः देखते हैं, इससे उनका अनित्यत्व सिद्ध है। इस प्रकार सब पदार्थों को नित्य कहना अयुक्त है। इस पर वादी का आक्षेप है—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ।३१।

सूत्रार्थ—तल्लाक्षणावरोधात्=उसके लक्षण के अवरोध से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—जिस वस्तु में उत्पत्ति-विनाश के लक्षण हैं, उसमें परमाणु का लक्षण नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य हैं। परन्तु, सब पदार्थ परमाणुओं से बने होने के कारण उनकी नित्यता का निषेध नहीं कर सकते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ।३२।

सूत्रार्थ—उत्पत्ति=उत्पत्ति और, तत्कारण=उसके कारण की, उपलब्धेः=उपलब्धि होने से, न=अनित्यत्व की सिद्धि नहीं होती ।

व्याख्या—उत्पत्ति और विनाश के कारण वास्तविक नहीं, औपधिक हैं । प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने से पहिले भी विद्यमान रहता है और विनाश के बाद भी उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता । घड़ा टूट जाता है तो भी उसके टूटे हुए कपाल आदि रहते हीहैं और उसका कारण द्रव्य मिट्टी सदा विद्यमान रहती है । सिद्ध हैं कि कोई पदार्थ अनित्य नहीं है ।

इस पर सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं–

न व्यवस्थानुपपत्तेः ।३३।

सूत्रार्थ–व्यवस्थानुपपत्तेः=व्यवस्था की उपपत्ति नहोने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है ।

व्याख्या—सब को नित्य मानने से उत्पत्ति और विनाशकी व्यवस्था ही न रहेगी । यदि पदार्थ पहिले से विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जायगी ? यदि नष्ट होने पर विद्यमान है तो नष्ट होना कैसे कहा जायगा ? इससे अविद्यमान रूप की प्राप्ति,उत्पत्ति और स्वरूप की हानि को विनाश मानना ठीक हैं । इससे नाशवान् पदार्थों का भी अनित्यत्व कहना युक्तिसङ्गत नहीं है–

इस पर पुनः आक्षेप होता है–

सर्वपृथक् भावलक्षण पृथक्त्वात् ।३३।

सूत्रार्थ—भावलक्षण पृथक्त्वात्=भाव लक्षणों के पृथक्-पृथक् होने से, सर्व पृथक्=सभी पदार्थों में पृथक्त्व है ।

व्याख्या—किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं है । सभी के भाव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षण पृथक-पृथक है। जाति, आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं हैं। सभी पदार्थ पृथक-पृथक और अनेक है।

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं—

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ।३५।

सूत्रार्थ—अनेक लक्षणैः=अनेक लक्षणों से, एक भाव निष्पत्तेः =एक भाव की निष्पत्ति होती है, इसलिये, न=उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या - अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि हो जाती है तो अनेक को क्यों मानें ? क्योंकि अनेक अवयव मिल कर एक अवयवी होता है।

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ।३६।

सूत्रार्थ—लक्षणव्यवस्थानात्=लक्षण की व्यवस्था होने से, एव=ही, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—भाव के लक्षण संज्ञा का नियम एक अवयवी हैं। मिट्टी के अवयवों से घड़ा बना है, परन्तु, पानी उस घड़े में ही भरा जाता है, मिट्टी के अवयवों में नहीं। इस प्रकार अनेक लक्षणों में एक भाव की सिद्धि होती है। इसलिये एकत्व का निषेध नहीं बनता। इस पर अन्य प्रतिवादी कहता है—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ।३७।

सूत्रार्थ—भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः=भावों में परस्पर अभाव की सिद्धि होने से, सर्वम्-अभावः=सब अभाव है।

व्याख्या - परस्पर भावों में अभाव की सिद्धि होती है। जैसे घड़े में वस्त्र का अभाव है। वस्त्र में घड़े का अभाव है, गौ में घोड़े का अभाव और घोड़े में गौ का अभाव है। इस प्रकार अभाव की सिद्धि होने से सब अभाव ही मान लेना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में इसका खण्डन करते हैं—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।३८।

सूत्रार्थ—भावानाम्=भावों की, स्वभावसिद्धेः=स्वभावसे सिद्धि होने के कारण, न=उक्त कथन ठीक नहीं है ।

व्याख्या—सभी पदार्थ अपने-अपने भावों में वर्तमान हैं । घड़े में घड़े का भाव हैं, वस्त्र में वस्त्र का, घोड़े में घोड़े का, गौ में गौ का, अभाव कहाँ रहा है, इस पर पुनः शंका की जाती है—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ।३९।

सूत्रार्थ—स्वभावसिद्धिः=स्वभाव से सिद्धि, आपेक्षिकत्वात् =आपेक्षिक होने से, न=उक्त कथन संगत नहीं ।

व्याख्या—सब पदार्थों के स्वभाव अपेक्षा से हैं । ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व । एक दूसरे की अपेक्षा के बिना कोई भी व्यवस्थित नहीं है और अपेक्षा के कारण स्वभाव सिद्ध नहीं कह सकते । इसका समाधान यह है—

व्याहतत्वादयुक्तम् ।४०।

सत्रार्थ—व्याहतत्वात्=व्याघात होने से, अयुक्तम्=उक्त कथन युक्ति सङ्गत नहीं है ।

व्याख्या—ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व है ऐसा कहने में अन्योन्याश्रम दोष उपस्थित होता है । इसलिए सभी भावों को आपेक्षिक कहना ठीक नहीं है—

अब संख्यावाद की परीक्षा प्रारम्भ करते हैं—

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।।४१।।

सूत्रार्थ—कारणानुपपत्तिः=कारण की अनुपपत्ति और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपपत्तिभ्याम्=उपपत्ति होने से, संख्यैकान्त=संख्यावाद की असिद्धिः=सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—यदि कार्य-कारण अलग-अलग हैं तो भी भेद की सिद्धि होती है और उनका एक होना सिद्ध नहीं होता। यदि अभेदहैं तो कारण के लिए बिना कार्य उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार 'सांख्यावाद' सिद्ध नहीं होता।

अगले सूत्र में इस पर शङ्का करते हैं—

न कारणावयवभावात् ।४२।

सूत्रार्थ—कारणावयवभावात्=कारण के अवयव होने से, न=उक्त कथन युक्त नहीं है।

व्याख्या—कारण कार्य का अवयव है और समृष्टि से व्यष्टि में अन्तर सिद्ध नहीं होता। इसलिए एक का निषेध करना युक्तिसङ्गत नहीं मान सकते। इसका खण्डन करते हैं—

निरवयत्वादहेतुः ।४३।

सूत्रार्थ—निरवयत्वात्=कारण के निरवयव होने से, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—कार्य के अवयव होते हैं, परन्तु कारण सूक्ष्म होने से अवयव-रहित होता है। इसलिए कारण को अवयव मानना युक्तिसंग्रतनहींहै।

सद्यः कालान्तरे च फल निष्पत्तेः संशयः ।४४।

सूत्रार्थ—कालान्तरे=कालान्तर में, च=और, सद्यः=तुरंत फलनिष्पतेः=फल की प्राप्ति होने से, इसमें, संशयः=संदेह है।

व्याख्या—दूध दुहने का फल तत्काल देखने में आता है अर्थात् दुहते ही दूध निकलने लगता है, पर बींज बोने पर अन्न कालान्तर में उत्पन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है । इससे यज्ञ आदि का फल मिलेगा या नहीं यह सन्देहास्पद है । अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यवत्वात् ।४५।

सूत्रार्थ—कालान्तरोनभोग्यवत्वात्=कालान्तर में भोगने योग्य होने से, सद्यः=तत्काल फल, न=नहीं मिलता ।

व्याख्या—जैसे बीज बोने का फल अन्न के रूप में कालान्तर में मिलता है, वैसे यज्ञ आदि क्रियाओं का फल संदेहास्पद नहीं मान सकते । इस पर फिर शङ्का होती है—

कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ।४६।

सूत्रार्थ—हेतुविनाशात्=हेतु के नष्ट होने से, कालन्तरेण=कालान्तर के, अनिष्पत्तिः=फल की प्राप्ति नहीं होती ।

व्याख्या—क्रिया के नष्ट होने पर, कारण के बिना उसका कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता । इसी प्रकार फल के लिए जो यज्ञ किए जाते हैं, उसकी क्रिया यहीं नष्ट हो जाती है इसलिए जमान्तर में कार्य का फल मिलना सम्भव नहीं ।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ।४७।

सूत्रार्थ—वृक्ष फलवत्=वृक्ष के फल के समान, प्राङ्निष्पत्तेः=उत्पत्ति से पूर्व, तत्स्यात्=वह होगा ।

व्याख्या—जिस प्रकार फल की आशा से कृषक पहले खेत का जोतता पानी देता और बोता है और वे सभी कार्य फल के उत्पन्न होनेसे पहिले हीं नष्ट हो जाते हैं । क्रियाओं को नष्ट होने पर मिट्टी और जल के परमाणुओं से बीज बढ़ता रहता है । बाद में पत्ते, शाखा, पुष्प, फल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि आते हैं। इस प्रकार धर्म-अधर्म कम रूप संस्कार के उत्पन्न होने पर उसका शुभ या अशुभ फल मिलता हैं। इस पर फिर शङ्का करते हैं-

नासन्नसन्न्सदसत्सदसतो वैधर्म्यात् ।४८।

सूत्रार्थ—सदसतोवैधर्म्यात्=सत् और असत् के विपरीत धर्म वाले होने से, नासन्नसत्=न असत् है, न सत् और, न=न, सदसत=सत् असत् ही है।

व्याख्या—उत्पत्ति से पूर्व के कर्मों का फल न सत् है न असत् और न सदसत् ही है। आगे होने वाले फल के अविद्यमान होने से उसे सत् नहीं कह सकते। असत् इसलिये नहीं कह सकते कि प्रत्येक कार्य का कारण उत्पत्ति से पहिले विद्यमान रहता है। यदि कहें कि सत्-असत् ही क्यों न मान लें ? यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक पदार्थ में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का रहना सम्भव नहीं है।

अब इसका समाधान करते हैं-

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति धर्मकर्मसदित्यद्धोत्पाद-व्ययदर्शनात् ।४९।

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति=उत्पत्ति से पहिले, धर्म-कर्म सदित्यद्धोत्पात्=उत्पत्ति धर्म वाला असत् है, क्योंकि उत्पत्ति का, अव्ययदर्शनात्=विनाश देखे जाने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—उत्पन्न होने वाला पदार्थ उत्पत्ति से पहिले असत् होता है। क्योंकि उसका उत्पन्न होना नष्ट होना प्रत्यक्ष देखते है। इसलिए उत्पन्न होने से पहले प्रत्येक पदार्थ को असत् मानना चाहिए।

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ।५०।

सूत्रार्थ—तु=जो, बुद्धि-सिद्धः=बुद्धि से सिद्ध है, तदसत्=वह असत् है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या –अमुक उपादान से अमुक वस्तु बनेगी यह बुद्धि से जाना जाता है। उत्पत्ति से पहिले उदादान कारण नियत होता है, केवल बुद्धि पूर्वक उससे उत्पान करना है। ऐसे पदार्थ को असत् मानना चाहिये इस पर शङ्का होती है।

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ।५१।

सू. र्थ—आश्रयव्यतिरेकात्=आश्रम-भेद से, वृक्षफलोत्पत्तिवत्=वृक्ष के फल की उत्पत्ति के समान, इति=यह कथन, अहेतुः=अयुक्त समझना चाहिए।

व्याख्या – कर्म करने वाले शरीर के नष्ट होने पर फल किसे प्राप्त होगा ? इसमें वृक्ष का दृष्टान्त अनुपयुक्त है। क्योंकि जल खींचना और फल मिलना एक ही वृक्ष के सम्बन्ध में है। यहां तो शरीर से कर्म होता है और वह शरीर नष्ट हो जाता है तो दूसरा शरीर फल भोगता है, इसमें आश्रय भेद होने से ठीक नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं–

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ।५२।

सूत्रार्थ—प्रीतेपात्माश्रयत्वात्=इच्छा का आत्मा के आश्रित होने से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं वनता।

व्याख्या—धर्म-अधर्म भेद वाला कर्म इच्छा सम्वन्धित होनेके कारण आत्मा का आश्रित है। क्योंकि इच्छा आत्मा का गुण है। शरीर में तो कर्म का अधिष्ठान मात्र हैं। इह वृक्ष का दृष्टान्त अनुपयुक्त नहीं हो सकता।

इस पर पुनः शङ्का होती है–

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छवहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ।५३।

सूत्रार्थ–पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादि=पुत्र, पशु, स्त्री,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिच्छद, सुवर्ण और अन्न आदि का, फलनिर्देशात्=फलों में निर्देश होने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं हैं।

व्याख्या—स्त्री, पुत्र आदि भी कर्मों का फल माने जाते हैं और वे आत्मा से अलग है, इसलिए भी आत्मा फल का आश्रित नहीं हो सकता अतः वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं। इसका समाधान यह है–

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ।५४

सूत्रार्थ—फलनिष्पत्तेस्तेषु=फल की निष्पत्ति का, तत्सम्बंधात्=इच्छा से सम्बन्ध होने से, फलवत्=फल के समान, उपचारः=पुत्र आदि में उपचार मानते हैं।

व्याख्या—पुत्र आदि के सम्बन्ध से सुख आदि की उत्पत्ति होने के कारण पुत्र आदि में फल का उपचार मानना ठीक है। जैसे अन्न को प्राण कहा है। परन्तु अन्न प्राण नहीं, प्राण का पोषण है। परन्तु उपचार रूप से प्राण कह दिया। इसी प्रकार पुत्र सुख नहीं, सुख देने वाला है, इसलिए, उसमें फल का उपचार किया गया है।

फल की परीक्षा हो गई, अब दुःख की परीक्षा करेंगे–

विविधबाधनायोगाद् दुखमेव जन्मोत्पत्तिः ५५।

सूत्रार्थ—विविध बाधानायोगात्=विभिन्न बाधाओंके संयोग से, जन्मोत्पत्तिः=जन्मोत्पत्ति, दुःखमेव=दुःख के ही समान है।

व्याख्या—दुःख का लक्षण बाधायें हैं। सुख की बाधा उत्पत्ति में बाधा उत्पन्न होना दुःख रूप ही है। बाधा से तात्पर्य जन्म मरण के बन्धन से भी है। जन्म होगा तो मरण निश्चय है। इससे जन्म को साक्षात् दुःख रूप ही समझना चाहिए। इस पर शङ्का करते हैं–

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ।५६।

सूत्रार्थ—सुखस्यान्तराल=दुःख के अन्तर्गत सुख की, निष्पत्तेः=उत्पत्ति होने से, न=उक्त मानना ठीक नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जीवन में केवल दुख ही नहीं है, सुख भी हैं। दुख है तो सुख भी अवश्य होगा। इसलिए सब दुःख का रूप बताना ठीक नहीं।

वाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादऽप्रतिषेधः ।५७।

सूत्रार्थ—वाधनानिवृत्तेर्वेदयत=दुःख की निवृत्ति न होने पर, और, पर्येषणदोषात्=सुखार्थी की इच्छा का दोष होने से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—सुख चाहने वाला व्यक्ति पर्येषण दोष के कारण सुख नहीं पा सकता। क्योंकि, प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार से दुःखी अवश्य है। और जो सुखी है, वह कभी न कभी दुःख अवश्य पाता है।

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ।५८।

सूत्रार्थ—दुःखविकल्पे=दुःख के विकल्प में, सुखाभिमानात् =सुख का अभिमान होने से, च=भी, जन्म होना=दुःख रूप ही है।

व्याख्या—अविद्या के कारण दुःख ही सुख समझ लिया जाता है। क्योंकि, जितने सुख हैं उन सबका परिणाम दुःख ही है। जन्म को प्रसन्नता का विषय मानते हैं, परन्तु जो जन्म लेता है, वह विभिन्न प्रकार के दुःख-सुख को भोग कर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। अब, अपवर्ग के सम्बन्ध में कहेंगे—

ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाऽभावः ।५९।

सूत्रार्थ—ऋणक्लेशप्रवृत्तिः=ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति के, अनुबन्धात्=अनुबन्धान से, अपवर्गाऽभावः=अपवर्ग का अभाव है।

व्याख्या—ऋण, क्लेश और प्रवृति के कारण मनुष्य सांसारिक चक्र में फँसा रहता है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति का यत्न नहीं कर पाता। अतः मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका समाधान करते हैं—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुण शब्देनानुवादो निन्दा-प्रशंसोपपत्तेः ।६०।

सूत्रार्थं प्रधानशब्दानुपपत्तोः=प्रधान शब्द की उत्पत्ति न होने से तथा, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः=निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति होने से, गुणशब्देन=गुणशब्द से, अनुवादः=कहा गया है।

व्याख्या -जहाँ देने योग्य दिया जाता और लेने योग्य लिया जाता है, वहां तो ऋण शब्द की प्रधानता है । परन्तु 'जायमानोह वै ब्राह्मण-स्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' में ऋण गौण से अनुवाद हुआ है प्रधान रूप से नहीं है । इस प्रकार उक्त शब्द के अर्थ वार से सम्बन्धित होने से अपवर्ग का अभाव नहीं बनता ।

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ।६१।

सूत्रार्थ—च=और, विद्यान्तरवत्=अन्य विद्याओं के समान अधिकारात्=अधिकार से, विधानम्=विधान होता है ।

व्याख्या—प्रत्येक शास्त्र अपने विषय का वर्णन करता है । गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ गृहस्थ धर्मों का वर्णन करते हैं । और आध्यात्मिक ग्रन्थ ईश्वर परक होने से मोक्षादि को कहते हैं । ऋण आदि का विधान गृहस्थ के अधिकार में होने से मुमुक्षु को मोक्ष-प्राप्ति के कार्य में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ६२।

सूत्रार्थ—आत्मनि=आत्मा में, समारोपणात्=आह्वनीय आदि तीनों अग्नियों में समारोपण से, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या —सन्यासी को आह्वनीय आदि तीन अग्नियों का आत्मा में समारोपण करने का विधान मिलता है। क्योंकि संन्यासी स्वर्ग की कामना नहीं रखता और अग्निहोत्र आदि का फल स्वर्ग में इसलिए मोक्ष की कामना वाले को ऋणादि का वन्धन मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ।६३।

सूत्रार्थ—सुषुप्तस्य=सोते हुए को, स्वप्नदर्शने=स्वप्न न दिखाई देने पर, क्लेशाभावात्=क्लेश का अभाव होता है, वैसे ही, अपवर्ग=अपवर्ग होगा।

व्याख्या —प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए मनुष्य को राग-द्वेष आदि के छूट जाने से सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञानी जन को राग-द्वेष आदि से निवृत्ति होने के कारण मोक्ष में बाधा नहीं हो सकती।

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ।६४।

सूत्रार्थ—हीनक्लेशस्य=तुच्छ क्लेशों की, प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति, प्रतिसन्धानाय=वन्धक के निमित्त, न=नहीं होती।

व्याख्या - राग आदि दोषों में क्लेश की उत्पति होती है। जिस पुरुष के राग आदि दोष मिट गए हैं, उनकी प्रवृति वन्धन की ओर नही हो सकती। इस पर शङ्का है।

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ।६५।

सूत्रार्थ—क्लेशसन्ततेः=क्लेश के अनुबन्ध, स्वाभाविकत्वात् =स्वाभाविक होने से, न=विच्छेद नहीं होता।

व्याख्या—राग आदि की परम्परा न जाने कब से चली आ रही है, उसका विच्छेद नहीं होता, इसलिए क्लेश का अनुबन्ध स्वाभाविक मानना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे।

प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्वस्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ।६६।

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तेः=उत्पत्ति से पहिले, अभावाऽनित्यत्व=अभाव की अनित्यता के समान, स्वाभाविकः=स्वाभाविक में, अपि=भी, अनित्यत्वम्=अनित्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या—उत्पत्ति पहिले कैसे उसका अभाव नित्य होता है, वैसे ही स्वाभाविक क्लेश सन्तति का भी नित्यत्व नहीं बनता।

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ।६७।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, अणुश्यामता=अणुओं की श्यामता के अनित्यत्ववत्=अनित्य होने के समान, क्लेश-सन्तति का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—जैसे परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाती है वैसे ही क्लेश-सन्तति स्वाभाविक होने पर भी अनित्य है।

इस पर सूत्रकार समाधान करते हैं—

न सकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ।६८।

सूत्रार्थ—च=और, रागादीनाम्=राग आदि के, संकल्पनिमित्तत्वात्=संकल्प निमित्तहोने से, न=उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—राग आदि की उत्पत्ति संकल्प से होती है। तत्वज्ञान हो जाता है। तब संकल्प विकल्प नहीं रहते। इस प्रकार रागादि न रहने पर क्लेश का अनुबन्धन भी नहीं रह सकता।

।। चतुर्थोऽध्याये:–प्रथमाह्निकं समाप्तम्: ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थोऽध्यायः-द्वितीयाह्निकम्

इस आह्निक में तत्वज्ञान की परीक्षा करेंगे । पहिले उसका क्रम करते हैं ।

दोषनिमित्तानां तत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ।१।

सूत्रार्थ--दोषनिमित्तानाम्=दोष के जो कारण हैं, उनके, तत्वज्ञानात्=तत्व ज्ञान से, अहंकार निवृत्तिः=अहंकार की निवृत्ति होती है ।

व्याख्या—राग आदि दोषों के कारण शरीर आदि है । उनका तत्व जान लेने पर अहंकार मिट जाता है ।

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ।२।

सूत्रार्थ--दोषनिमित्तम्=दोष के निमित्त, रूपादयो विषयाः=रूप का आदि विषय, संकल्पकृताः=संकल्प से उत्पन्न होतेहैं।

व्याख्या—विषय दो प्रकार के हैं, वाह्य और आन्तरिक रूप आदि वाह्य विषय राग आदि को उत्पन्न करने वाले हैं और अहंकार आदि आन्तरिक दोष हैं । इनमें सर्व प्रथम वाह्य विषय को त्याग करे । फिर आन्तरिक विषय को छोड़ दे ।

तन्निमित्तंत्ववयव्यभिमानः ।३।

सूत्रार्थ–तन्निमित्तम्=उन दोषों का निमित्त, तु=तो, अवयव्यभिमानः=अवयवी का अभिमान है ।

व्याख्या—अवयवी में जो अभिमान बुद्धि होती है वही राग आदि दोषों का निमित्त है । इसलिए अभिमान वाली बुद्धि को त्यागना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ।४।

सूत्रार्थ—विद्याऽविद्याः=विद्या और अविद्या के, द्वैविध्यात् =दो प्रकार में, संशयः=संदेह होता है।

व्याख्या—सत् और असत् दो प्रकार का ज्ञान होने से विद्या दो प्रकार की है तथा इन दोनों का ज्ञान न होने से भी अविद्या दो प्रकार की ही है। एक अवयवी के होने से उसके ज्ञान के सत् या असत् होने का संदेह होता है। इसलिये अवयवों को संदिग्ध मानना ही ठीक नहीं है। इसका समाधान यह है।

तदऽसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ।।५।।

सूत्रार्थ—पूर्वहेतु प्रसिद्धत्वात्=पूर्वहेतु के प्रसिद्ध होने से, तदऽसंशयः=उससे संशय नहीं है।

व्याख्या—द्वितीय अध्याय में अवयवी का होना सिद्ध कर चुके हैं। उनका खण्डन न होने से अवयवी में सन्देह नहीं है।

वृत्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ।६।

सूत्रार्थ—वृत्यनुपपत्तेः=वृत्ति की उत्पत्ति न होने से, अपि= भी, तर्हि=उसमें हो संशयः=सन्देह, न=नहीं बनता।

व्याख्या—यदि अवयवी का न होना मानें तो भी उसमें सन्देह व्यर्थ है। क्योंकि, जो वस्तु है उसी में सन्देह हो सकता है, नहीं है, उसमें सन्देह कैसा ?

कृत्स्नैकदेशत्वृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ।७।

सूत्रार्थ—कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात्=सब अवयवों के एक देशवर्ती होने से, अवयवानाम्=अवयवों का, अवयवी=अवयवी होना, अभावः=नहीं बनता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—एक-एक अवयव सब अवयवों में नहीं रह सकता, क्योंकि उनके कार्य में भिन्नता है। इसलिए अवयवी का अभाव होता है।

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ।८।

सूत्रार्थ—तेषु=उन अवयवों में, आवृत्तेः=आवृत्ति होने से, च=भी, अवयव्यभावः=अवयवी का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या—परिणाम भेद के कारण अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता। जब एक-एक अवयव में अवयवी का अभाव है तो सभी अवयवों में उसका अभाव मानना होगा।

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ।९।

सूत्रार्थ—अवयवेभ्यः=अवयवों से, पृथक्=भिन्न, अवृत्तेः =वर्तमान न होने से, च=भी, अवयवी की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—यदि अवयवों से अवयवी को भिन्न पदार्थ मानें तो ऐसा सिद्ध नहीं होता। इसलिए अवयवी का अभाव मानना ही ठीक है।

न चावयव्यवयवाः ।१०।

सूत्रार्थ—च=और, अवयव्यवयवाः=अवयव अवयवी, न= नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि अवयव और अवयवी में भेद न मानें, तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि धागों को वस्त्र या मिट्टी को घड़ा नहीं कह सकते।

इसका समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेद शब्दप्रयोगानुपपत्तेर-प्रश्नः ।११।

सूत्रार्थ—एकस्मिन् भेदाभावात्=एक में भेद का अभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने से, भेद शब्द प्रयोगानुपपत्तेः=भेद शब्द के प्रयोग का अनुपपत्ति से, अप्रश्नः=प्रश्न नहीं बनता।

व्याख्या—प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है या उसका कोई भाग ? यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि अवयवों का समुदाय ही अवयवी है। इसलिए अवयव और अवयवी में कोई भेद नहीं है।

अवयवान्तराऽभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ।१२।

सूत्रार्थ—अवयवान्तराऽभावे=अवयव के अन्तर में अभाव होने पर, अपि=भी, अवृत्तेः=वृत्ति का न होना सिद्ध होने से, अहेतुः=वह हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या—एक अवयवी के अन्य अवयवों में न रहने से जो अवयवी का अभाव कहा, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और सम्बन्ध तभी रहेगा, जब वृत्तियों सहित अवयवी सब अवयवों में हो—इस पर शंका करते हैं—

केश समूहेतैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।१३।

सूत्रार्थ—केश समूहे=बालों के समूह में, तैमिरिकोपलब्धिवत्=अन्धकार की उपलब्धि के समान, ततुपलब्धिः=उसकी उपलब्धि है।

व्याख्या—जैसे कम दृष्टि वाले को एक बाल दिखाई नहीं देता, परन्तु वह बालों के समूह को काले धब्बे के समान देख लेता है। इसी प्रकार एक अणु के दिखाई न देने पर भी अणुओं का समुदाय अवयवी रूप में दिखाई देता है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्यपटुमन्द भावाद् विषयग्रहणस्य तथाऽभावो नाऽविषये प्रवृत्ति ।१४।

सूत्रार्थ—स्वविषयान्=अपने-अपने विषय के, अतिक्रमेण=

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतिक्रमण करने पर, इन्द्रियस्य=इन्द्रियों के, पटुमन्दभावात्=तीव्र और मन्द होने से, विषय ग्रहणस्य=विषय ग्रहण होने पर, तथाऽभावोनाऽविषये प्रवृत्तिः=तथानुसार अन्य विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।

व्याख्या—कोई भी इन्द्रिय अपने विषय का अतिक्रमण नहीं कर सकती। नेत्र से सुनाई पड़ना सम्भव नहीं। कान देखने का कार्य नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि परमाणु अतीन्द्रिय है, उसका नेत्र से दिखाई देना सम्भव नहीं। जब एक परमाणु दिखाई नहीं देता, तो उनका समूह कैसे दिखाई देगा? इस पर शंका है—

अवयवाऽवयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ।१५।

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, आप्रलयात्=प्रलय पर्यन्त, अवयवाऽवयविप्रसङ्ग=अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग, च=भी उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि अवयव में अवयवी की वृत्ति को न मानें तो अवयवी का अभाव हो जायगा या निरवयव मानने से परमाणु वाद ही समाप्त हो जायगा, दोनों दशाओं में उपलब्धि नहीं होगी।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ।१६।

सूत्रार्थ अणुसद्भावात्=परमाणुओं के होने से, प्रलयः=नाश, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—अवयवों का विभाग कह कर वृत्ति निषेध द्वारा अभाव बताया गया, वह परमाणुओं के निरवयव होने से असिद्ध होगा। क्योंकि परमाणु का विभाग न होने से, उसका नाश भी नहीं हो सकता।

परं वा त्रुटेः ।१७।

सूत्रार्थ—त्रुटेः=नाश से, वा=जो, परम=अतिरिक्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—परमाणु सूक्ष्म और विनाश-रहित होता है। अथवा किसी पदार्थ का विभाग करते-करते, वह दशा आ जाय कि फिर उसका विभाग न हो सके, वही परमाणु है अब आक्षेप है—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ।१८।

सूत्रार्थ—आकाशव्यतिभेदात्=आकाश के व्यति भेद से, तदनुपपत्तिः=उस निरवयव की उत्पत्ति नहीं है।

व्याख्या - परमाणु निरवयव नहीं है, उसके बाहर भीतर आकाश है इस प्रकार व्याप्त वस्तु निरवयव नहीं हो सकती।

आकाशाऽसर्वगत्वं वा ।१९।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, आकाश=आकाश, असर्वगत्वम्=सर्वगत नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि परमाणु में आकाश का होना न मानें तो आकाश सर्वव्यापक नहीं रहेगा इसका समाधान यह है—

अन्तर्बहिश्चकार्यद्रव्यस्यकारणान्तरवचनाद-कार्येतदभावः ।२०।

सूत्रार्थ—अन्तः=भीतर, च=और, वहिः=वाहर, कार्य-द्रव्यस्य=कार्य द्रव्य के, कारणान्तरवचनात्=कारणान्तर वचन से, अकार्ये=अकार्य में, तदभावः=उसका अभाव है।

व्याख्या—जब कार्य द्रव्य, कारण की दशा में न हो तब उसमें भीतर वाहर का व्यवहार हो सकता है। परन्तु, कारण रूप परमाणु में वैसा नहीं हो सकता। नीचे इसी की पुष्ट करते हैं—

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वतगम् ।२१।

सूत्रार्थ—सर्वसंयोग=सर्वत्र संयोग, च=और, शब्दविभवात्=शब्द के होने से, सर्वगतम्=आकाश सर्वव्यापी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—ससार के सब पदार्थों में आकाश है। यदि आकाश न होता तो वस्तुओं में छिद्र रूप अवकाश नहीं हो सकता था। इससे सिद्ध हुआ कि आकाश सर्वदेशीय है।

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ।२२।

सूत्रार्थ—अव्यूह=अव्यूह, अविष्टम्भ=अविष्टम्भ, च=और, विभुत्वानि=विभुत्व यह, धर्मा=धर्म, आकाश=आकाश के हैं।

व्याख्या—मिश्रित पदार्थों के आघात से छिन्न-भिन्न होना व्यूह और अन्य देश में गति का रुकना विष्टम्भ है। यह दोनों बातें आकाश में नहीं हैं, वह तो केवल विभु है। इस पर पुनः शंका करते हैं--

मूर्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ।२३।

सूत्रार्थ—मूर्तिमताम्=मूर्त द्रव्यों में, संस्थानोपपत्तेः=परिमाण की उपपत्ति होने से, अवयवसद्भावः=अवयव का सद्भाव है।

व्याख्या—परिच्छिन्न और स्पर्श वाले द्रव्यों का आकार होता है और आकार वाले सभी पदार्थ संयुक्त हैं। परमाणु भी ऐसा ही है, इसलिए उसे निरवयव नहीं मान सकते।

संयोगोपपत्तेश्च ।२४।

सूत्रार्थ—संयोगः=संयोग की, उपपत्ते=उपपत्ति होने से, च=भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—जब तीन परमाणु मिलते हैं तब एक बीच में और एक-एक इधर उधर होते हैं, इस प्रकार उनका संयुक्त होना भी सिद्ध है। अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ।२५।

सूत्रार्थ—अनवस्थाकारित्वात्=अनवस्था कारित होने से, च=और, अनवस्थानुपपत्तेः=अनवस्था की उपपत्ति होने से, अप्रतिषेधः=प्रतिषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—संयुक्त पदार्थ अवयव वाले, आकार वाले तथा अनित्य होते हैं । यह हेतु अनवस्थाकारी है और अनवस्था होने से उक्त हेतु माना नहीं जा सकता ।

बुद्ध्याविवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्त-न्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धि ।२६।

सूत्रार्थ—बुद्धय् विवेचनात्=बुद्धि से विचारने पर, तु=तो, भावानाम्=भावों को, यथात्म्यानुपलब्धिः=यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, तन्त्वपकर्षणेपटसद्भावानुपलब्धिवत्=तन्तु के अनुभव से पट के होने की उपलब्धि न होने के समान, तदनुपलब्धिः= उसकी अप्राप्ति है ।

व्याख्या—कपड़े को देखें तो वह तारों का समूह मात्र है । इसलिये कपड़ा केवल बुद्धि का विषय है, यथार्थ में कुछ नहीं । इस पर वस्तु ज्ञान मिथ्या है । क्योंकि जो कुछ मालुम होता है, वह केवल ज्ञान से ही है, इसके सिवा कुछ हैं ही नहीं । इसका समाधान करते हैं—

व्याहतत्वादहेतु ।२७।

सूत्रार्थ—व्याहतत्वात्=व्याहात होने से, अहेतुः=अहेतु है ।

व्याख्या—बुद्धि से विवेचन किये जाने पर भावों की अप्राप्ति नहीं रह सकती और जहां भावों की अप्राप्ति है वहाँ बुद्धि से विवेचन नहीं हुआ । यह व्याघात दोष होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम् ।२८।

सूत्रार्थ—तदाश्रयत्वात्=उसके आश्रित होने से, अपृथक ग्रहणम्=पृथक ग्रहण नहीं होता ।

व्याख्या—कार्य अपने कारण का आश्रित होने से उसका पृथक ग्रहण नहीं किया जाता ।

प्रमाणतश्चाऽर्थप्रतिपत्तेः ।२९।

सूत्रार्थ—च=और, प्रमाणतः=प्रमाण से, अर्थप्रतिपत्तेः= अर्थ की उपलब्धि होती है ।

व्याख्या—जो वस्तु जैसी है, उसकी उपलब्धि प्रमाण से होती है । उसका विवेचन बुद्धि से होता है ।

प्रमाणानुपपत्युपपत्तिभ्याम् ।३०।

सूत्रार्थ—प्रमाणानुपपत्तिः=प्रमाण की अनुपत्ति और उप- पत्तिभ्याम्=उपपत्ति से भी यही मानना ठीक है ।

व्याख्या—पदार्थों को कल्पित मानना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रमाण से कल्पित सिद्ध करेंगे, उसका अस्तित्व तो मानना ही होगा । फिर अभाव कैसे बनेगा ? यदि प्रमाण के बिना ही कल्पित कहने लगे तो उसे कोई मानेगा नहीं । इस पर शंका करते हैं—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः ।३१।

सूत्रार्थ—स्वप्नविषयाभिमानवत्=स्वप्न विषयक अभिमान के समान, अयम्=यह, प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः=प्रमाण और प्रमेय का अभिमान है ।

व्याख्या—स्वप्न में प्रमेय पदार्थों के कल्पित होने पर भी उनका अभिमान होता है, वैसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी कल्पित है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ।३२।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, मायागंधर्वनगर=मायामय गंधर्व नगर, या, मृगतृष्णिकावत्=मृगतृष्णा के समान मिथ्या है।

व्याख्या—माया के गन्धर्व नगर और मृगतृष्णा का ज्ञान मिथ्या है, वैसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी वस्तु शून्य है।

हेत्वभावादसिद्धिः ।३३।

सूत्रार्थ—हेत्वाभावात्=हेतु के अभाव से, असिद्धिः=उक्त हेतु की सिद्धि नहीं है।

व्याख्या—स्वप्न के विषय कल्पित हैं, यह कहना कोई हेतु नहीं है। क्योंकि स्वप्न में विषयों का अभाव है तो क्या हुआ, जागने पर तो भाव होता है।

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ।३४।

सूत्रार्थ—स्मृति सङ्कल्पवत्=स्मृति और सङ्कल्प के समान, स्वप्नविषयाभिमानः=स्वप्न विषय का अभिमान है।

व्याख्या—जिन कारणों से स्मृति और संकल्प होते हैं, उन्हीं कारणों से स्वप्नाभिमान होता है। यदि जागरण और स्वप्न में भेद न होता तो स्वप्नाभिमान कहा ही नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि स्वप्नाभिमान जाग्रत में अनुभव किये विषयों का स्मारक और साधक है।

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ।३५।

सूत्रार्थ—प्रतिबोधे=जागने पर, स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्=स्वप्न के विषय का अभिमान नष्ट हो जाने के समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्वज्ञानात्=तत्वज्ञान से, मिथ्योपलब्धिविनाशः=मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—मिथ्या ज्ञान वह है जिसमें किसी वस्तु को कुछ का कुछ समझा जाता है। तत्व ज्ञान के होने पर हर वस्तु का यथार्थ स्वरूप मालुम हो जाता है।

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलभ्यात् ।३६।

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, निमित्तसद्भावोपलभ्यात्=कारण और सत्ता की उपलब्धि से, बुद्धेः=बुद्धि की, च=भी सत्ता सिद्ध होती है।

व्याख्या—मिथ्या बुद्धि का कारण और उससे उत्पन्न अस्तित्व की उपलब्धि से, मिथ्या बुद्धि का भी अस्तित्व मानना उचित है।

तत्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ।३७।

सूत्रार्थ—तत्वप्रधानभेदात्=तत्व और प्रधान के भेद से, च=भी, मिथ्याबुद्धेः=मिथ्याबुद्धि, द्वैविध्योपपत्तिः=दो प्रकार पाई जाती है।

व्याख्या—मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है—तत्व और प्रधान। इनमें स्थाणु तत्व है और पुरुष प्रधान है। स्थाणु को पुरुष मानने की भाँति ही मिथ्या बुद्धि होती है।

समाधिविशेषाभ्यासात् ।३८।

सूत्रार्थ—समाधिविशेषः=समाधिविशेष के, अभ्यासात्=अभ्यास से तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—विषयों से हटा कर मन को परमेश्वर के ध्यान में लगाना समाधि है, उसी के अभ्यास से तत्व ज्ञान हो सकता है। इस पर वादी शंका करता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नार्थविशेषप्राबल्यात् ।३९।

सूत्रार्थ—अर्थविशेषप्राबल्यात्=अर्थ विशेष की प्रबलता से न=समाधि नहीं हो सकती।

व्याख्या—इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषय इतने प्रबल है कि न चाहते हुए भी मनुष्य उनके चक्कर में पड़ जाता है, और उनका त्याग नहीं हो पाने से समाधि का होना कठिन ही है।

क्षुधादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ।४०।

सूत्रार्थ—क्षुधादिभिः=भूख आदि की, प्रवर्त्तनात्=प्रवृत्ति से, च=भी यही मानना ठीक है।

व्याख्या—भूख, प्यास, रोग आदि ऐसे विषय हैं कि इनके कारण मनुष्य का मन स्थिर नहीं हो सकता। इसलिये समाधि का होना सम्भव नहीं है।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।४१।

सूत्रार्थ—पूर्वकृतफलानुबन्धात्=पूर्व जन्म के कर्म फल के अनुबन्ध से, तदुत्पत्तिः=समाधि की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—समाधि की सिद्धि पूर्व जन्मों के संचित कर्म फल के रूप में होती है इसका कारण पूर्व संस्कार और अभ्यास है।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।४२।

सूत्रार्थ—अरण्यगुहापुलिनादिषु=वन गुफा और नदी के किनारे, योगभ्यासोपदेशः=योगाभ्यास करने का उपदेश है।

व्याख्या—जंगल, गुफा या किसी नदी के किनारे एकान्त स्थान में बैठकर समाधि का अभ्यास करे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ।४३।

सूत्रार्थ - अपवर्गे=मोक्ष, में, अपि=भी, एवम्=ऐसा ही, प्रसंग:=प्रसंग उपस्थित होगा ।

व्याख्या—जैसे सांसारिक मनुष्य अपने को वाह्य विषयों से नहीं, वचा सकता, वैसे ही मोक्ष में यह बाह्य विषय बुद्धि को क्यों न विचलित करेंगे ? इसका समाधान करते हैं—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ।४४।

सूत्रार्थ—निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्=बाह्य ज्ञान के अवश्यम्भावी होने से, न=ऐसा नहीं होता ।

व्याख्या—मुक्त अवस्था में स्थूल शरीर नहीं होता, केवल सूक्ष्म शरीर रहता है, इसलिए बाह्य विषय ग्रहण नहीं किये जा सकते । जब इन्द्रियाँ ही नहीं तो विषय ज्ञान कहाँ से होगा ?

तदभावश्चापवर्गे ।४५।

सूत्रार्थ—अपवर्गे=मोक्ष में, तद्भावः=शरीर का अभाव होने से भी विषय-ग्रहण सम्भव नहीं ।

व्याख्या—मोक्ष अवस्था में शरीर नहीं रहने से विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता ।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।४६।

सूत्रार्थ—तदर्थम्=उस मोक्ष के निमित्त, यमनियमाभ्याम् =यमनियम पूर्वक, च=और, योगात्=योग से तथा, अध्यात्म विध्युपायैः=अध्यात्म विद्या आदि के उपायों से, आत्म संस्कार =आत्मा का संस्कार करना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—मोक्ष के स्वरूप को जानने तथा आत्मा साक्षात्कार करने का सुनिश्चित उपाय योगिक साधनों का आश्रय लेना ही है क्योंकि इसके बिना तत्वज्ञान नहीं हो सकता ।

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।४७।

सूत्रार्थ—ज्ञानग्रहाणाभ्यासः=ज्ञान ग्रहण का अभ्यास, च=और, तद्विद्यैः=उसके विद्वानों से, सह संवादः=सह सम्वाद करे ।

व्याख्या—योग साधन के अतिरिक्त अध्ययन आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करे और जिस विषय में शंका हो उसमें विद्वानों के परामर्श ले तथा जिज्ञासु भाव से समाधान प्राप्त करे ।

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ।४८।

सूत्रार्थ—तम्=उस आत्मज्ञानी को, विशिष्ट=विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थिभि=श्रेयार्थी और, अनसूयिभिः=निन्दा रहित, शिष्यगुरुसब्रह्मचारी=शिष्य गुरु सहपाठी के साथ, अभ्युपेयात्=सेवा आदि से प्राप्त करना चाहिये ।

व्याख्या—आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्मतत्वदर्शी विशिष्ट ज्ञानी से गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार शिक्षा प्राप्त करे । वह गुर भी निन्दा रहित और परम ज्ञानीं होने चाहिए ।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।४९।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, प्रयोजनार्थमर्थित्वे=तत्वज्ञान की इच्छा होने पर अपने प्रयोजन के लिए, प्रतिपक्षहीनम्=प्रतिपक्ष हीन होकर, अपि=भी, ज्ञान प्राप्त करे ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जिज्ञासु भाव से अपने प्रयोजन की सिद्धि में लग जायें, किसी पक्ष-विपक्ष या मत-मतान्तर में न पड़े।

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ।५०।

सूत्रार्थ—वीजप्ररोहसंरक्षणार्थम्=बीज की रक्षा के लिए, कण्टकशाखावरणवत्=कांटों की शाखाओं का आवरण करने के समान, तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्=तत्व निर्णय की रक्षा के लिये, जल्पवितण्डे=जल्प और वितण्डा हैं।

व्याख्या—जल्प और वितण्डा का लक्षण पहले अध्याय में कह चुके हैं। यद्यपि जल्प और वितण्डा का प्रयोग उचित नहीं है फिर भी वीज की रक्षा के लिए कांटों की वाढ़ लगा देते हैं वैसे ही आवश्यकता पड़ने पर जल्प और वितण्डा का प्रयोग करके भी तत्व निर्णय की रक्षा करनी चाहिए।

॥चतुर्थाध्यायः—द्वितीयान्हिकः समाप्तः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पंचमोऽध्यायः--प्रथमाह्निकम्

**साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य विकल्प साध्य-
प्राप्त्य प्राप्तिप्रसंगप्रति दृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय प्रकरणः-
हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनु पलब्धिनित्या-
नित्यकार्यसमाः ।१।**

सूत्रार्थ साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम वर्णसम, अवर्णसम, विकल्पसम, साध्यसम प्राप्तिसम, अप्राप्ति, सम, प्रसङ्गसम,प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरण सम, हेतुसम. अर्थापत्तिसम. अविशेषसम, उत्पत्तिसम, उपलब्धि-सम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम और कार्यसम—यह २४ जातिभेद हैं।

व्याख्या—इन भेदों के द्वारा प्रतिपक्षी के हेतुओं का खण्डन करते हैं। आगे इनका लक्षण कहेंगे।

**साधर्म्यवैधर्माभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः
साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।२।**

सूत्रार्थ—साधर्म्यवैधर्माभ्याम्=साधर्म्य और वैधर्म्य से उपसंहारे=साधर्म्य का उपसंहार करने पर, तद्धर्मविपर्यय्यः= उसके धर्म के व्यतिक्रम की, उपपत्ते=उपपत्ति से, साधर्म्य वैधर्म्यसमौ=साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या - जब साधर्म्य से साध्य में विपरीत धर्म देखते हैं, तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधर्म्य ही साध्य का खण्डन कर देता है यही साधर्म्यसम दोष है और दो पदार्थों के विरुद्ध धर्मों को लेकर उनकी विषमता का प्रतिपादन करना वैधर्म्यसम दोष है।

गोत्वाद् गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ।३।

सूत्रार्थ—गोत्वाद्=गऊपन से, गोसिद्धिवत्=गऊ की सिद्धि होने के समान, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि है।

व्याख्या—गऊ को सिद्ध करने के लिए गऊपन और गऊ की आकृति ही मुख्य कारण है, पूँछ, पाँव आदि नहीं। अर्थात् गऊपन से गऊ को सिद्ध करना साधर्म्यसम है।

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ।४।

सूत्रार्थ—साध्यदृष्टान्तयोः=साध्य और दृष्टान्त के धर्मविकल्पात्=धर्म विकल्प से, उभयसाध्यत्वात्=दोनों प्रकार से सिद्ध होने से, उत्कर्षापकर्ष=उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्यावर्ण्य=वर्ण, अवर्ण, विकल्पसाध्यसमाः=विकल्प और साध्य यह छै प्रतिषेध होते हैं।

व्याख्या—साध्य और दृष्टान्त के भेद से दोनों प्रकार सिद्ध होने वाले उक्त छै प्रतिषेध कहे गये हैं।

अगले सूत्र में सूत्रकार अपना मत देते हैं।

किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ।५।

सूत्रार्थ—किंचित्साधर्म्यात्=साध्य की सिद्धि में किंचित् साधर्म्य होने से, उपसंहारसिद्धेः=उपसंहार सिद्ध होने पर, वैधर्म्यात्=वैधर्म्य से, अप्रतिषेधः=खण्डनीय नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या--जहाँ कुछ साधर्म्य होगा, वहीं साध्य की सिद्धि होगी उसमें किसी धर्म के विरोध होने से उसका प्रतिषेध नहीं होता। किन्तु धर्म में मिलने से उपमान की सिद्धि होती है।

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ।६।

सूत्रार्थ—साध्य-अतिदेशात्=साध्य के अतिदेश से, च=भी दृष्टान्तोपपत्तेः=दृष्टान्त की उपपत्ति होती है।

व्याख्या—दृष्टान्त में साध्य के सब धर्मों के मिलने की आवश्यकता नहीं है, एक धर्म मिल जाना चाहिए। यदि सभी धर्म मिल जायें तो साध्य और दृष्टान्त में कुछ भेद ही न रहेगा। इसलिए साध्यसम का निषेध नहीं बनता।

प्राप्यसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वाद-प्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ।७।

सूत्रार्थ प्राप्त्या-अविशिष्टत्वात्=प्राप्ति में विशेषता न होने से, हेतोः=हेतु से, प्राप्यसाध्यमप्राप्य=साध्य को पाकर सिद्ध करने को प्राप्य, वा=अथवा, अप्राप्त्या=अप्राप्ति के, असाधकत्वात्=असाधक होने से, प्राप्त्य=अप्राप्ति का प्रतिषेधक अप्राप्तिसमौ=अप्राप्यसम कहा जाता है।

व्याख्या—प्राप्ति से खण्डन करना प्राप्तसम और अप्राप्ति से खण्डन करने को अप्राप्तसम कहा जाता है। इस पर सूत्र का मत है।

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ।८।

सूत्रार्थ—घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्=घड़े आदि की निष्पत्ति देखने से, च=और अभिचारात्=अभिचार से, पीड़ने=पीड़ा होने पर, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या– घड़े को बनाता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं यह चाक और मिट्टी आदि के संयोग होने पर बनता है, विना संयोग के घड़े का अभाव सिद्ध है। इसलिए प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का निषेध ठीक नहीं।

दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रति-दृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ ।९।

सूत्रार्थ—दृष्टान्तस्य=दृष्टान्त के, कारणाऽनपदेशात्=कारण के अनपदेश से, च=और, प्रतिदृष्टान्तेन=प्रतिदृष्टान्त के, प्रत्य-वस्थानात्=खण्डन से, प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ=प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम होते हैं।

व्याख्या—कारण का कारण और दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं माना जाता। यदि ऐसा मानें तो उनके भी कारण और दृष्टान्त का प्रसंग आवेगा। इसे प्रसंगसम दोष और प्रत्येक दृष्टान्त में इस दोष की संभावना प्रतिदृष्टान्तसम दोष कहा जायगा।

प्रदीपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ।१०।

सूत्रार्थ—प्रदीपादान=दीपक के ग्रहण करने में, प्रसंगानि-वृत्तिवत्=प्रसङ्ग की निवृत्ति के समान, तद्विनिवृत्तिः=इसकी निवृत्ति है।

व्याख्या—अंधेरा दूर करने के लिए दीपक जलाते हैं, परन्तु दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक नहीं जलाते। ऐसे ही दृष्टान्त की सिद्धि के लिए अन्य दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती।

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ।११।

सूत्रार्थ—च=और, प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे=प्रति दृष्टान्त के हेतु में, दृष्टान्तः=दृष्टान्त, अहेतुः=अयुक्त, न=नहीं है।

व्याख्या—दृष्टान्त का खण्डन करने के लिए प्रतिदृष्टान्त दिया जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। परन्तु दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नहीं होती तो प्रतिदृष्टान्त से उसका खण्डन भी नहीं हो सकता।

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः।१२।

सूत्रार्थ—प्रागुत्पत्तेः=उत्पत्ति के पूर्व, कारणाभावात्=कारण के अभाव से, अनुत्पत्तिसमः=अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध होता है।

व्याख्या—अनुत्पत्ति के दृष्टान्त से उत्पत्ति का खण्डन करने को अनुत्पत्तिसम दोष कहते हैं। अगले सूत्र में उत्तर देते हैं—

तथा भावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः।१३।

सूत्रार्थ—तथाभावादुत्पन्नस्य=उत्पन्न के उस प्रकार होने से, तथा कारणोपपत्तेः=कारण की उत्पत्ति होने से, कारण-प्रतिषेधः=कारण का निषेध, न=नहीं होता।

व्याख्या—उत्पत्ति से पहले शब्द का अभाव है और शब्द के न होने से अनुत्पत्ति को कारण मानकर उसका खण्डन करना युक्ति संगत नहीं है।

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्याऽनित्य-साधर्म्यात् संशयसमः।१४।

सूत्रार्थ—सामान्यदृष्टान्तयोः=सामान्य और दृष्टान्त में, ऐन्द्रियकत्वे=इन्द्रिय सम्बन्धी दोष, सामने=समान है, नित्यानित्य=नित्य-अनित्य के, साधर्म्यात्=साधर्म्य से, संशयसमः=संशयसम प्रतिषेध होता है।

व्याख्या—संशय को हेतु मानकर जिसके द्वारा खण्डन करें वह संशयसम है। इसमें नित्य तथा अनित्य साधर्म्य से संशय रहता है। जैसे कहें कि शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है, फिर कहें कि घड़े के समान है तो उसमें संशय रहने से ही संशयसम कहा गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयोऽत्यंतसंशयप्रसंगो नित्यत्वान्नाऽभ्युपगमाच्च सामान्यस्य प्रतिषेधः ।१५।

सूत्रार्थ -साधर्म्यात्=साधर्म्य से, संशये=संशय होने पर. वैधर्म्यात्=विधर्म से, संशय=संशय, न=नहीं रहता, वा=यदि, उभयथा=दोनों प्रकार से, संशयः=संशय मानें तो, अत्यन्तसशय प्रसङ्गः=अत्यन्त संशय का प्रसङ्ग होगा, नित्यत्वात् =नित्यत्व के, अभ्युपगमात्=अभ्युपगम, न=न होने से, च= भी, सामान्य का, अप्रतिषेधः=अप्रतिषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—साधर्म्य से संशय हो तो वैधर्म्य से संशय नहीं रहेगा। यदि दोनों प्रकार से संशय हो तो फिर अत्यन्त संशय का दोष उपस्थित होगा। विशेष का ज्ञान होने पर नित्यत्व के साधर्म्य का निषेध नहीं कर सकते।

उभयासाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ।१६।

सूत्रार्थ—उभयासाधर्म्यात्=दोनों के साधर्म्य से, प्रक्रियासिद्धेः=प्रक्रिया की सिद्धि होने पर, प्रकरणसमः=प्रकरणसम होता है।

व्याख्या—पक्ष और विपक्ष की प्रवृत्ति ही प्रक्रिया है। उसकी उत्पत्ति नित्य-अनित्य-अनित्य के साधर्म्य से होती है। इससे प्रकरणसम बनता है तथा नित्य-अनित्य के वैधर्म्य से भी प्रकरणसम उत्पन्न हो जाता है। अगले सूत्र में इसका समाधान करेंगे -

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधाऽनुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्ते ।१७।

सूत्रार्थ—प्रतिपक्षात्=प्रतिपक्ष से, प्रकरणसिद्धेः=प्रकरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्ध होने पर, प्रतिपक्षोपपत्तेः=प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से, प्रतिषेधानुपपत्तिः=प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती।

व्याख्या—दोनों के साधर्म्य से प्रकरण सिद्ध होने में प्रतिपक्ष कारण हुआ। इसलिए प्रतिपक्ष का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि, प्रतिपक्ष और प्रतिषेध दोनों एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते।

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ।१८।

सूत्रार्थ—हेतोः=हेतु के, त्रैकाल्यासिद्धेः=तीनों कालों में न होने पर, अहेतुसमः=अहेतुसम होता है।

व्याख्या—हेतु साधन को कहते हैं। यह तीनों काल में असिद्ध है। न वह साध्य के पहिले होता है, न पीछे और न साथ ही होता है। इसलिए उसे अहेतुसम कहा है।

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ।१९।

सूत्रार्थ—हेतुतः=हेतु से, साध्यसिद्धेः=साध्य के सिद्ध होने पर, त्रैकाल्यासिद्धिः=तीन काल में असिद्धि, न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—यदि कहें कि कोई कार्य कारण के बिना सिद्ध नहीं होता और बिना साधन के कोई साध्य भी सिद्ध नहीं होता तो हेतु का तीनों कालों में सिद्ध होना भी नहीं कह सकते, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जो ज्ञेय है वही साध्य है, उसका जानने वाला साधन है, वही उसका हेतु है।

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याऽप्रतिषेधः ।२०।

सूत्रार्थ—प्रतिषेध-अनुपपत्तेः=प्रतिषेध की उपपपत्ति न होने से, प्रतिषेद्धव्य=प्रतिषेद्धव्य का, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता

व्याख्या—यदि हेतु के त्रिकाल में असिद्ध होने से उसका खण्डन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करें तो इस खण्डन का भी खण्डन हो जाता है। इसलिये निषेध करना ठीक नहीं।

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ।२१।

सत्रार्थ—अर्थापत्तिः=अर्थापत्ति से, प्रपिपक्षसिद्धेः=प्रति-पक्ष की सिद्धि होने पर, अर्थापत्तिसमः=अर्थापत्तिसम होगा।

व्याख्या—एक बात कहें उससे दूसरी बात स्वयं जान ली जाय। यह अर्थापत्ति है। इस प्रकार अर्थापत्ति न होने से प्रतिपक्ष कीं सिद्धि होती हो तो उसे अर्थापत्तिसम कहते हैं।

अगले सूत्र में इसका निराकरण करेंगे—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपत्तिरनुक्तत्वादनैका-न्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ।२२।

सूत्रार्थ—अनुक्तस्यार्थापत्तेः=अर्थापत्ति के न कहे गये, च =और, अनैकान्तिकत्वात्=अनैकान्तिक होने से, अनुक्तत्वात् =न कहे गये, अर्थापत्तेः=अर्थापत्ति से, पक्षहानेरुपपत्तेः= पक्षहानि की उपपत्ति हैं।

व्याख्या – अर्थापत्ति के न कही गयी होने से और अनैकान्तिक होने से, अर्थापत्ति दोष नहीं बनता। क्योंकि अस्पष्ट होने से कोई शब्द को नित्य कहें तो अर्थापत्ति से यह कहना कि उत्पन्न होने से शब्द नित्य नहीं युक्ति-संगत नहीं मान सकते।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात् सद्भावो-पपत्तेरविशेषसमः ।२३।

सूत्रार्थ—अविशेषे=अविशेष में, एकधर्मोपपत्तेः=एक धर्म की उपपत्ति से सर्वाविशेषप्रसङ्गात्=सम्पूर्ण विशेष प्रसङ्ग आने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से, सद्भावोपपत्तेः=सद्भाव की उपपत्ति होना, अविशेषसमः =अविशेषसम होगा।

व्याख्या--किसी एक धर्म की समानता दिखाकर दो पदार्थों को सामान्यता एक ही मानना अविशेषसम दोष है। जैसे कहें कि शब्द और घड़ा दोनों उत्पन्न धर्म वाले होने से समान हैं। इस प्रकार सबको एक जैसा बताना अविशेषसम कहा जायगा। अब इसका समाधान करते हैं—

क्वचिद्धर्माऽनुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः।२४।

सूत्रार्थ—क्वचिद्धर्माऽनुपपत्तेः=कहीं धर्म को अनुपपत्ति, च=और, क्वचित्=कहीं, उपपत्तेः=उपपत्ति से, प्रतिषेधाभावः =निषेध का अभाव होता है।

व्याख्या—कहीं तो एक धर्म मिलता है और कहीं नहीं मिलता इसलिए अनैकान्तिक होने के कारण अविशेषसम दोष को उचित नहीं कह सकते।

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ।२५।

सूत्रार्थ—उभय कारणोपपत्तेः=दोनों कारणों की उपपत्ति होने से, उपपत्तिसमः=उपपत्तिसव होता है।

व्याख्या—जैसे शब्द का अनित्यत्व उसके उत्पत्ति धर्म से है तो उसके नित्यत्व का कारण अस्पृश्य अर्थात् योग्य न होने से है। इन कारणों की उत्पत्ति होने से उपपत्तिसम दोष होता है।

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादऽप्रतिषेधः ।२६।

सूत्रार्थ—उपपत्ति कारणाभ्यनुज्ञानात्=उपपत्ति के मान लेने पर, अप्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—जब दोनों कारणों की उत्पत्ति स्वीकार कर ली गई हो तो फिर मान्यता न देने का कोई आधार नहीं रहता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ।२७।

सूत्रार्थ—निर्दिष्ट कारणाभावे=निर्दिष्ट कारण के अभाव में, अपि=भी, उपलम्भात्=उपलम्भ से, उपलब्धिसमः=उपलब्धिसम होता है।

व्याख्या—नियत कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि होती है इसलिए, उसे उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान कहते हैं। अत्र इसका समाधान करेंगे—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेध ।२८।

सूत्रार्थ—कारणान्तरात्=कारणान्तर से, अपि=भी, तद्धर्मः=उस धर्म की, उपपत्वेः=उपपत्ति होने से, न प्रतिषेधः=निषेध नहीं बनता।

व्याख्या—अन्य कारणों से भी उस धर्म का उत्पन्न होना सम्भव है, इसलिए निषेध करना युक्तिसंगत नहीं है।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ।२९।

सूत्रार्थ—तदनुपलब्धेः=उसकी अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात्=अनुपलम्भ से, अभाव सिद्धौ=अभाव के सिद्ध होने पर, तद्विपरीतोपपत्तेः=उनके विपरीत उत्पन्न होने से अनुपलब्धिसमः=अनुपलब्धिसम होता है।

व्याख्या—आवरण की प्रत्यक्षता में उसका अभाव मानें तो उसके अभाव की प्रत्यक्षता से अभाव का भी अभाव मानना होगा। और आवरण के अभाव का अभाव मानने से भाव की सिद्धि होगी। तब शब्द का भी नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार दूषण देने को अनुपलब्धिसम कहते हैं। अब इसका उत्तर देते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुपलम्भात्मकत्वादऽनु पलब्धेरहेतुः ।३०।

सूत्रार्थ—अनुपलब्धेः=अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात्मकत्वाद्र =अनुपलम्भात्मक होने से, अहेतुः=उक्त हेतु ठीक नहीं।

व्याख्या—अभाव से अभाव को सिद्ध करना ठीक नहीं है। क्योंकि भाव का अभाव होता है अभाव का क्या अभाव होगा ? जो वस्तु है उसी की उपलब्धि होती है, नहीं है उसकी उपलब्धि कहाँ से होगी ? इसलिये अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान नहीं बनता।

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाऽभावसंवेदनादध्यात्मम् ।३१।

सूत्रार्थ—ज्ञानविकल्पानम्=ज्ञान विकल्पों का, भावः= होना, च=और, अभाव=न होना इसका, संवेदनादध्यात्मम्= अनुभव आत्मा में होने से भी उक्त हेतु ठीक नहीं।

व्याख्या—प्रत्येक व्यक्ति अपने आत्मा में ज्ञान विकल्पों के होने का अनुभव करता रहता है। जैसे 'मैं घड़े को देखता हूँ' ऐसा कहने से ही शब्द के आवरण के अभाव का अभाव अनुभव नहीं करता। इससे आव-रण की कल्पना उचित नहीं है।

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यप्रसंगादनित्यसमः ।३२।

सूत्रार्थ—साधर्म्यात्=साधर्म्य से, तुल्यधर्मोपपत्तेः=समान धर्म की उपपत्ति होने पर, सर्वानित्यन्व=सब में अनित्यत्व के प्रसंगात्=प्रसंग से, अनित्यसमः=अनित्यसम होता है।

व्याख्या—'अनित्य घड़े के साधर्म्य के शब्द अनित्य है' ऐसा कहने पर यदि कहें कि 'घड़ा भी एक पदार्थ है। उसके साधर्म्य से सभी पदार्थ अनित्य होंगे।' इस प्रकार अनित्यत्व कहना अनित्यसम प्रत्यव-स्थान होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधाऽसिद्धिः प्रतिषेध्य-साधर्म्याच्च ।३३।

सूत्रार्थ—साधर्म्यात्=साधर्म्य से, असिद्धेः=असिद्ध होने पर, च=भी, प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्=निषेधित के साधर्म्य से, प्रतिषेधाऽसिद्धिः=प्रतिषेध नहीं बनता ।

व्याख्या—यदि घड़ा और शब्द का उत्पन्न होना साधर्म्य शब्द के अनित्यत्व में पर्याप्त नहीं है तो घड़े के साधर्म्य से सब पदार्थों का अनित्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि शब्द भी सब पदार्थों में आ गया । इसलिए प्रतिवादी का कथन युक्तिसङ्गत नहीं है ।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाऽविशेषः ।३४।

सूत्रार्थ—दृष्टान्ते=दृष्टान्त में साध्यसाधनभावेन=साध्य साधन भाव से, प्रज्ञातस्य धर्मस्य=ज्ञान होने वाला धर्म, हेतुत्वात्=हेतु होने से, च=और, उभयथा=दोनों प्रकार का, भावात्=होने से, अविशेषः=अविशेष नहीं ।

व्याख्या—साध्य का साधन धर्म हेतु है । वह हेतु किसी के अनुकूल और किसी के प्रतिकूल होता है । उसका किसी के साथ सामान्य और किसी के साथ विशेष सम्बन्ध होता है । इसमें सामान्य से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य उत्पन्न होता है । इनमें से एकाश्रय से ही खण्डन करना ठीक नहीं है । इसलिए केवल साधर्म्य से अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता ।

नित्यमनित्यभावादनित्येनित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ।३५।

सूत्रार्थ—नित्यमनित्यभावात्=नित्य में अनित्य के भाव से और, अनित्ये=अनित्य में, नित्यत्व=नित्यत्व का भाव, उपपत्तेः=उपपन्न होने से, नित्यसमः=नित्यसम होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—वादी ने कहा शब्द अनित्य हैं, इस पर प्रतिवादी ने पूछा कि शब्द में जो अनित्यत्व है वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्द कहें तो गुण नित्य होगा और गुणी भी नित्य होगा और यदि अनित्य कहें तो उसमें जो अनित्यत्व है. उसके अनित्य होने से शब्द का नित्यत्व सिद्ध हो जायगा ।

अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं–

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाऽभावः ।३६।

सूत्रार्थ – प्रतिषेध्ये=प्रतिषेध्य में, नित्यमनित्यभावात्= अनित्य के नित्य से, अनित्ये=अनित्य में, नित्यत्वोपपत्तेः= नित्यत्व की उपपत्ति से, प्रतिषेधाऽभावः=निषेध का अभाव है।

व्याख्या—शब्द को अनित्य मानकर नित्य कहना अयुक्त है । क्योंकि नित्यत्व का हेतु अनित्यत्व नही हो सकता और हेतु के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं होता । जहां अनित्यत्व का अभाव हो वहाँ भाव नहीं हो सकता । इसलिए नित्यसम दोष मानना युक्तिसङ्गत नहीं ।

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ।३७।

सूत्रार्थ—प्रयत्न कार्यानेकत्वात्=प्रयत्न कार्य के अनेक होने से, कार्यसमः=कार्यसम होता है ।

व्याख्या —प्रतिवादी ने प्रयत्न के बाद उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है, यह स्वीकार कर लिया, परन्तु प्रयत्न के अनेक कार्य हैं अर्थात् प्रयत्न के बाद किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और किसी की अभिव्यक्ति तो प्रयत्न का कार्य होने से शब्द को उत्पन्न हुआ ही क्यों मानें ? अभिव्यक्ति हुआ क्यों न मान लें ? इस प्रकार कार्य के अनेकत्व से कार्यसम दोष होता है । अगले सूत्र में इसका उत्तर देते हैं–

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाऽहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ।३८।

सू ार्थ—कार्यान्यत्वे=कार्य के अन्य होने पर, अनुपलब्धि कारणोपपत्तेः=अनुपलब्ध कारण की उपपत्ति से, प्रयत्नाऽहे तु-त्वम्=प्रयत्न का हे तत्व नहीं होता ।

व्याख्या प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण शब्द कार्य है । जहाँ अभिव्यक्ति होती है, वह आवरण उपलब्धि का कारण नहीं होता । परन्तु, उत्पत्ति में आवरण का अभाव होता है शब्द का कहीं आवरण न होने से उत्पत्ति होती है । इसलिए कार्यसम प्रतिषेध अनेकान्तिक है । इस पर शङ्का करते हैं–

प्रतिषेंधेऽपि समानोदोषः ॥३९॥

सूत्रार्थ—प्रतिणेधे=प्रतिणेध में, अपि=भी, समानो दोषः =समान दोष है ।

व्याख्या – यदि अनैकान्तिक होने से कार्यसम नहीं होना तो उसका खण्डन भी अनैकान्तिक होने से प्रामाणिक नहीं हो सकता । शब्द को अनित्य कह कर प्रयत्न से उसकी उत्पत्ति मानी है, अभिव्यक्ति नहीं । इससे दोनों में ही समान दोष है ।

सर्वत्रैवम् ।४०।

सूत्रार्थ – सर्वत्र=सर्वत्र, एवम्=ऐसा ही है ।

व्याख्या – कार्यसम में जो अनैकान्तिक दोष बताया है, वह उपयुक्त नही, परन्तु साधर्म्य आदि चौबीस भेद कहे हैं, उनमें प्रसक्ति होती है । इसलिए सब प्रामाणिक हैं ।

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवशु दोषः ।४१।

सूत्रार्थ–प्रतिणेधविप्रतिणेधे=प्रतिणेध के विप्रतिणेध में, प्रति-णेध-दोषवत्=प्रतिणेध के समान, दोषः=दोष है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या —प्रतिषेधों में अनैकान्तिक दोषों के समान ही, प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस दोष का प्रसङ्ग है। जैसे प्रथम पक्ष 'कार्य होनेसे शब्द अनित्य है' दूसरा पक्ष-कार्य के विभिन्न प्रकार का होने से कार्यसम दोष है, तीसरा पक्ष · 'दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष समान रूप से हैं' और चौथा पक्ष है—खण्डन का खण्डन करने में भी समान दोष है । अब पांचवा पक्ष कहते हैं—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।४२।

सूत्रार्थ—प्रतिषेधम्=प्रतिषेध को, सदोषमभ्युपेत्य=दोषयुक्त मानकर, प्रतिषेघविप्रतिषेधे=प्रतिषेध और विप्रतिषेध, समानो =समान, दोष:=दोष का, प्रसङ्गोमतानुज्ञा='प्रसङ्ग मतानुज्ञा कहा जाता है।

व्याख्या—द्वितीय पक्ष को दोष युक्त मान कर तीसरे पक्ष अर्थात् खण्डन के खन्डन में भी दोष देना 'मतानुज्ञा' है। अब अन्तिम सूत्र में उपसंहार करते हैं–

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्ष दोषाभ्यु पगमात्समानो दोष इति ।४३।

सूत्रार्थ—स्वपक्षलक्षणापेक्ष:=अपने पक्ष में दोष के लक्षण की अपेक्षा से हेतु निद्दंशे=हेतु के निद्देंश में, परपक्षदाषा-भ्युपगमात्=पर पक्ष में दोष के मानने से अथवा, उपपत्युप-संहारे=उपपत्ति के उपसंहार से, दोष देखने में, समानो दोष: =समान दोष होता है।

व्याख्या—अपने पक्ष को सिद्ध किए विना, प्रतिवादी के आक्षेप का भी खण्डन नहीं बनता। अत: जिस किसी के पक्ष पर आक्षेप हो, उसे अपने पक्ष को निर्दोष सिद्ध करना चाहिए, जो स्वपक्ष को सिद्ध कियेविना दूसरे खण्डन का करता है, उसे मतानुज्ञानिग्रह स्थान कहते हैं।

।। पञ्चमोऽध्याय: प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पंचमोऽध्यायः-द्वितीयाह्निकम्

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञा-संन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थपमार्थ-कमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानम प्रतिभाविक्षेपोमतानुज्ञा पयनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानु-योगोऽपसिद्धानतो हेत्वाभासाश्च निग्रस्थानानि ।१।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा हानिः प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञा संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्त काल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग अपिसिद्धान्त और हेत्वाभास यह बाईस निग्रहस्थान हैं। इनमें से पहिले प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं।

व्याख्या—निग्रह-स्थान विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प से उत्पन्न होते हैं और उनमें पड़कर वाद-विवाद करने वाले को परास्त हो जाना पड़ता है। अतः न्याय सिद्धान्त के अनुसार निर्णय करने के लिए उसकी जानकारी भी आवश्यक है।

प्रतिदृष्टान्त धर्मभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ।२।

सूत्रार्थ--प्रतिदृष्टान्त धर्माभ्यनुज्ञा=दूसरे के पक्ष के धर्म को मानना, स्वदृष्टान्ते=अपने पक्ष में, प्रतिज्ञाहानिः=प्रतिज्ञा हानि है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—अपने पक्ष को सिद्ध न कर, उसका त्याग करके दूसरे पक्ष के दृष्टान्त को स्वीकार कर लेने को प्रतिज्ञा-हानि कहते हैं। अगले सूत्र में प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।३।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञातार्थ प्रतिषेधे=प्रतिज्ञात अर्थ के निषेध पर धर्म विल्पात्=धर्म के विकल्प से, तदर्थनिर्देशः=उसके अर्थ के निर्देश को, प्रतिज्ञान्तरम्=प्रतिज्ञान्तर कहते हैं।

व्याख्या—अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होने पर, उसको सिद्ध न करते हुए किसी अन्य प्रयिज्ञा को कर बैठना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान कहा जाता है। जैसे पहिले कहा कि शब्द अनित्य है, परन्तु शब्द का अनित्यत्व सिद्ध न कर सके और कह बैठे कि शब्द सर्वगतिमान नहीं है तो इस प्रकार प्रतिज्ञा को बदलना प्रतिज्ञान्तर हुआ।

प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ।४।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः=प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध का, प्रतिज्ञाविरोधः=प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान कहते हैं।

व्याख्या – प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध से प्रतिज्ञा विरोध होता है। जैसे कहा कि 'द्रव्य गुण से भिन्न है' यह प्रतिज्ञा हुई, फिर कहा कि 'रूप आदि के सिवाय और किसी वस्तु के न मिलने से, यह हेतु दिया। इसमें प्रतिज्ञा और हेतु दोनों परस्पर विरोधी है। यदि गुण द्रव्य से भिन्न हैं तो रूप आदि के सिवाय कोई वस्तु न मिलता ठीक नहीं। यदि रूप आदि से भिन्न अर्थ न मिले तो द्रव्य गुण से भिन्न होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है।

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थाऽपनयनं प्रतिज्ञासन्यासः ।५।

सूत्रार्थ—पक्षप्रतिषेधे=पक्ष का निषेध होने पर प्रतिज्ञा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तार्थं=प्रतिज्ञा के अर्थं को, अपनयनम्=छोड़ देना, प्रतिज्ञा-संन्यासः=प्रतिज्ञा-संन्यास कहा जाता है।

व्याख्या—जो प्रतिज्ञा की थी उसका खण्डन हो गया, तो उसे छोड़ दिया, इसे प्रतिज्ञासंन्यास कहते हैं। जैसे किसी ने इन्द्रिय का विषय होने से शब्द का अनित्य होना, इस पर आक्षेप हुआ कि जाति तो नित्य है, इन्द्रिय का विषय वह भी है। इस आक्षेप को देख कर वादी अपनी प्रतिज्ञा से टूट कर कहने लगे कि शब्द को अनित्य कौन बताता है?' बस यही प्रतिज्ञा सन्यास है।

अविशेषोक्त हेतोः प्रतिषिद्जे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।६।

सूत्रार्थ—अविशेषोक्त=अविशेष रूप से कहे हुए, हेतोः=हेतु के, प्रतिसिद्धे=निषेध पर, विशेषमिच्छता=विशेष की इच्छा हो, वह हेत्वन्तरम्=हेत्वन्तर।

व्याख्या - अपने पहिले हेतु को छोड़ कर दूसरे हेतु की शरण हेत्वन्तर हैं।

प्रकृतादर्थाप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम् ।७।

सूत्रार्थ—प्रकृतात्=प्रकृति के, अर्थात्=अर्थ से, प्रतिसम्बद्धार्थम्=सम्बन्ध न रखने वाले को, अर्थांतरम्=अर्थान्तर कहते।

व्याख्या—कोई कहे कि शब्द नित्य नहीं है, उत्पन्न होने से फिर कहे कि 'शब्द गुण है आकाश का। यह प्राकृतिक अर्थ से असम्बद्ध होने के कारण अर्थान्तर निग्रह स्थान हुआ।

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।८।

सूत्रार्थ—वर्णक्रमनिर्देशवत्=जो केवल वर्ण क्रम निद्देश करने के समान है, वह, निरर्थकम्=निरर्थक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या—जिन शब्दों का कोई अर्थ न निकले, उसको कहना निरर्थक निग्रहस्थान है।

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ।९।

सूत्रार्थ—परिषत्प्रतिवादिभ्याम्=परिषत् और प्रतिवादी से, त्रिरभिहितम्=जो अभिप्राय तीन बार कहने पर, अपि=भी, अविज्ञाताम्=न जाना जा सके, अविज्ञातार्थम्=अविज्ञातार्थ कहते हैं।

व्याख्या—वादी के शब्दों का तात्पर्य किसी की समझ में आवे तथा सभा और प्रतिवादी के तीनबार स्पष्ट करने को कहनेपर भी स्पष्ट न कर सके तो यह समझा जायगा कि वादी स्वयं उन शब्दों का अर्थ नहीं जानता। इसे अविज्ञातार्थ निग्रह स्थान कहते हैं।

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् ।१०।

सूत्रार्थ—पौर्वापर्य-अयोगात्=पूर्वापर के सम्बन्ध बिना, अप्रतिसम्बन्द्धार्थम्=असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्य को, अपार्थकम् =अपार्थक कहते हैं।

व्याख्या—जो असम्बद्ध अर्थ वाले और बिना पूर्वापर प्रसङ्ग वाले वाक्य हैं, वे अपार्थक कहे जाते हैं

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।११।

सूत्रार्थ—अवयवविपर्यासवचनम्=अवयव के विपरीत कहने को, अप्राप्तकालम्=अप्राप्त काल कहते हैं।

व्याख्या—प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन यह पांच अवयव कहे जा चुके हैं। इनके क्रमपूर्वक कहने का ही नियम है। परन्तु क्रम पूर्वक न कहकर उलट-पलट कर कहना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।१२।

सूत्रार्थ—हीनमन्ययमेनाप्यवयवेन=किसी एक अवयव से हीन को, न्यूनम्=न्यून कहते हैं।

व्याख्या—प्रतिज्ञा, हेतु आदि जो पांच अवयव हैं, उनमें से किसी एक अवयव को छोड़ देना अर्थात् सबसे अवसर पर काम न लेने को न्यून निग्रहस्थान कहते हैं।

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ।१३।

सूत्रार्थ—हेतूदाहरणाधिकम्=हेतु और उदाहरण की अधिकता होने से, अधिकम्=अधिक कहते हैं।

व्याख्या—यदि एक हेतु और उदाहरण से काम चल जाय तो अधिक का प्रयोग न करे। क्योंकि, हेतु और उदाहरण अधिक हो, तो उसे 'अधिक' निग्रह स्थान कहते हैं।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।१४।

सूत्रार्थ—अन्यत्रानुवादात्=अन्यत्र अनुवाद से, शब्दार्थयोः =शब्द और अर्थ के, पुनर्वचनम्=पुनर्वचन को, पुनरुक्तम्= पुनरुक्त कहते हैं।

व्याख्या—अनुवाद को छोड़कर शब्द और अर्थ को दुबारा कहना पुनरुक्त है। अनुवाद उसे कहते हैं जो एक बात किसी प्रयोजन में दो चार कही जावे। परन्तु, अनुवाद के अतिरिक्त दो बार कहना पुनरक्त है।

अनुवादेत्वपुनरुक्तंशब्दाऽभ्यासादार्थविशेषोपपत्तेः ।१५।

सूत्रार्थ—शब्दाऽभ्यासात्=शब्दाभ्यास से, अर्थविशेषोपपत्तेः=अर्थ विशेष की उपपत्ति से, अनुवादेत्वपुनरुक्तम्=अनुवाद में पुनरुक्त नहीं होता।

व्याख्या—अनुवाद में तो अर्थ विशेष को प्रकट करने के लिए बात को दुहराना होता ही है, क्योंकि इसके बिना अनुवाद की यथार्थता नहीं बनती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ।१६।

सूत्रार्थ—अर्थादापन्नस्य=अर्थापत्ति से सिद्ध हुए का, स्वशब्देन=अपने शब्द से, पुनर्वचनम्=पुनर्बार कहना पुनरुक्त है

व्याख्या—जिस वाक्य से एक अर्थ का बोध हो जाय, उसी अर्थ को फिर कहना पुनरुक्त है।

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणम-ननुभाषणम् ।१७।

सूत्रार्थ—विज्ञातस्य=जाने हुए अर्थ का, परिषदा त्रिर-भिहित=सभा द्वारा तीन बार कहे जाने पर, अपि=भी, अनु-च्चारणम्=उच्चारण न करना,अननुभाषणम्=अननुभाषण है।

व्याख्या—यदि अर्थ सूचक शब्द का उच्चारण ही न करेगा तो बाद में अन्य पक्ष का खण्डन कैसे होगा ? इसीलिए तीन बार सभा के कहने पर भी जो उच्चारण न करे, उसे 'अननुभाषण' कहा जाता है।

अविज्ञातञ्चाऽज्ञानम् ।१८।

सूत्रार्थ—अविज्ञात=कहे हुए शब्द को न समझना, च=ही, अज्ञानम्=अज्ञान निग्रह स्थान है।

व्याख्या—प्रतिवादी तीन बार किसी अर्थ को कहे तो भी वादी की समझ में न आवे, तो उसे अज्ञान निग्रह स्थान कहा जाता है।

उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।१९।

सूत्रार्थ—उत्तरस्य=उत्तर की, अप्रतिपत्तिः=सूझ न होना, अप्रतिभा=अप्रतिभा निग्रहस्थान है।

व्याख्या—प्रतिपक्षी के आक्षेप का उत्तर न सूझ पड़े और वादी मौन रह जाय अथवा भय, प्रमाद, विस्मृति या संकोचवश उत्तर न दे तो यह सब अप्रतिभा निग्रह स्थान कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य व्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ।२०।

सूत्रार्थ--कार्य व्यासङ्गात्=कार्य को फैलाकर, कथा-विच्छेदः=कथा का विच्छेद करना, विक्षेपः=विक्षेद कहा जाताहै।

व्याख्या—किसी कार्य के बहाने से विवाद को टाल देना—जैसे मुझे अमुक कार्य है; उसको करने पर फिर बात करूँगा इस प्रकार से वाद को बन्द करना विक्षेप, नामक निग्रह स्थान कहा जायगा ।

स्वपक्षदोषाऽभ्यूपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो-मतानुज्ञा ।२१।

सूत्रार्थ--स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात्=अपने पक्ष में दोष को न मिटाकर, परपक्षदोष प्रसंगः=पर पक्ष में दोष का प्रसंग, मताःनुज्ञा=मतानुज्ञा निग्रह स्थान है ।

व्याख्या--अपने पक्ष में जो दोष लगा है, उसका समाधान किये बिना, दूसरे पक्ष में उसी प्रकार के दोष का आरोपण करना 'मतानुज्ञा' है । पर-पक्ष पर दोष लगाने से, अपना दोष नहीं मिट सकता ।

निग्रहस्थानप्राप्तस्याऽनिग्रहः पर्य्यनु योज्योपेक्षणम् ।२२।

सूत्रार्थ - निग्रहस्थानप्राप्तस्य=निग्रह स्थान प्राप्त हुए का, अनिग्रहः=निग्रह न करना, पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्=पर्य्यनुयोज्यो पेक्षण कहा जाता है ।

व्याख्या--जो किसी निग्रहस्थान में पड़ गया, उसको यह न बतलाना कि निग्रहस्थान में पड़ गये हो, 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' है । क्योंकि निगृहीत तो अपनी निर्बलता को कहेगा नहीं और प्रतिवादी भी उसे न टोके तो वह अपने पक्ष का ही अनुमोदन करता जायगा ।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयो-ज्यानुयोगः ।२३।

सूत्रार्थ--अनिग्रहस्थाने=निग्रह स्थान न होने पर, निग्रहः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थानाभियोगो=निग्रह स्थान होने का अभियोग लगाना, निरनुयोज्यानुयोगः=निरनुज्यानयोग निग्रह स्थान है।

व्याख्या—वादी के निग्रहस्थान में न पड़ने पर भी प्रतिवादी उसे निग्रहस्थान में पड़ा हुआ कह दे तो यह भी उचित नहीं माना जाता।

सिद्धान्तमभ्युत्याऽनियमात्कथाप्रसंगो-ऽपसिद्धान्तः ।२५।

सूत्रार्थ—सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमात्=सिद्धांत का स्वीकार कर अनियम से, कथा प्रसंगः=कथा प्रसंग करना, अप सिद्धांतः='अपसिद्धान्त' निग्रह स्थान है।

व्याख्या—किसी सिद्धान्त को मानकर, अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये, उसी सिद्धान्त के विरुद्ध कहना 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान है। वाद में इसे भी उचित नहीं मानते। क्योंकि, इससे अपने पक्ष की निर्बलता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ।२६।

सूत्रार्थ—यथोक्ताः=यथोक्त, हेत्वाभासः=हेत्वाभास, च=भी, निग्रहस्थान ही है।

व्याख्या—पांच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं, यह पहले कह चुके हैं—यह पाँचों हेत्वाभास भी निग्रहस्थानों में सम्मिलित हैं। छब्बीस प्रकार के निग्रहस्थानों में इन पांचों को एक माना गया है। इसके लक्षण प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक में कहे जा चुके हैं, इसलिए पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है।

।। पञ्चमोध्यायः द्वितीयाह्निक सम्पूर्णम् ।।

।। न्याय-दर्शनं सम्पूर्णम् ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0- In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi